मैथिलीशरण गुप्त

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप मे राजा शुद्धोधन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमे तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे है। उनके नीचे बैठा है मुशी जो व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। भारत में लेखन–कला का यह सभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

मैथिलीशरण गुप्त

रेवती रमण

साहित्य अकादेमी

Maithilisharan Gupta : A monograph by Rewati Raman on the Modern Hindi Writer. Sahitya Akademi, New Delhi (1999) Rs. 25.

प्रथम संस्करण	:	1996
प्रथम पुनर्मुद्रण	:	1998
द्वितीय पुनर्मुद्रण	:	1999

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, फीरोजशाह रोड़, नयी दिल्ली-110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली-110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर मार्ग, कलकत्ता-700 053
गुना बिल्डिंग, दूसरी मंजिल, 304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट, चेन्नई-600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर मुम्बई-400 014
ए.डी.ए रंगमन्दिर, 109, जे० सी० मार्ग, बैंगलोर-560 002

ISBN 81-260-0013-9

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : सागर प्रिंन्टर्स एण्ड पब्लिकेशन, दिल्ली-110 003

भूमिका

कुछ कवि ऐसे होते है जो अपने सहज ज्ञान पर आधारित कविता लिखकर समय को इतिहास की धारा में गौरवशाली बना देते हैं। उनसे भिन्न कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो अपनी कालानुसरण की क्षमता से जातीय संवेदना को ही नयी भंगिमा में पुनर्प्रस्तुत कर देते हैं। मैथिलीशरण गुप्त दूसरे प्रकार के ही कवि प्रतीत होते हैं। उन्हें मध्यकालीन सगुणमार्गी कवियों की परम्परा में आधुनिक काल का एक समर्थ वैष्णव कवि होने का गौरव प्राप्त है। उनमें राम काव्य और कृष्ण काव्य की धाराएँ नये युग-सन्दर्भ के उद्घाटन में सहायक बनी हैं। गुप्त जी की निश्छल भक्ति -भावना संप्रदायवादी संकीर्णता को चुनौती देती प्रतीत होती है। मध्यकालीन भक्तों की भाँति उनके भी काव्य में भावनात्मक ऐक्य का उद्देश्य निहित है। गुप्त जी के लिए मातृभूमि सर्वेश की सगुण मूर्ति है, जो शताब्दियों की दासता से मुक्ति के लिए भारत-पुत्रों का आह्वान कर रही है। गुप्त जी दासता को पशुतुल्य मानते हैं। उनकी धार्मिकता स्वभावतः परदुःखकातर होने से देश और जाति के उद्धार के दायित्व-निर्वाह में तत्पर लक्षित होती है।

गुप्त जी का कवि-कर्म पराधीन भारतवासियों को पूर्वजों के शील की शिक्षा से परिचित कराने का एक प्रभावशाली माध्यम है। उनका स्वर अधिकांश में उद्बाधनात्मक है। प्राचीन आर्य-गौरव का स्मरण कराते हुए, निशिवासर चिन्ता निमग्न वर्तमान को गुप्त जी आत्महीनता से बचाने का सार्थक प्रयास करते हैं। उनकी किसानी चेतना इकहरी है और उपदेश को कवित्व-विरोधी नहीं मानती। उनके बाद वाले दौर में उपदेश को कविता की कमजोरी माना गया और बिम्ब-विधान पर बल दिया गया। परन्तु गुप्त जी की कविता लम्बे समय तक उचित उपदेश का मर्म समझाती रही।

मुझे लगता है, कविता को मनोरंजन की रीतिवादी अवधारणा से मुक्त करने के प्रयास में ही गुप्त जी की वाग्मिता वर्णनात्मक हो गई। अवश्य, इसमें काव्य-भाषा के रूप में खडी बोली की शिशुता भी कम विचारणीय नहीं ठहरती। खडी बोली में काव्य-रचना का मार्ग आज प्रशस्त राज-मार्ग के समान लगता है, द्विवेदी-

युग में ऐसा नहीं था; अतः आचार्य द्विवेदी के सर्वांग-पूर्ण अभिभावकत्व में मैथिलीशरण गुप्त सरीखे कवियो ने काव्य-भाषा की उपलब्धि का जो संघर्ष किया, उसमें नये दौर के युवा कवियो के लिए पर्याप्त मार्गदर्शक निहितार्थ हैं। गुप्त जी अद्वितीय विनम्रता के साथ काव्य-भाषा अर्जित करते हैं। ब्रजभाषा के व्यामोह से छूट कर, अपने युग के गतिशील यथार्थ की चुनौती को स्वीकार कर गुप्त जी एक सुदीर्घ और लक्ष्यनिष्ठ कविता-यात्रा पूरी करते हैं। उनका स्वदेशानुराग अप्रतिम है और भारतीय नारी को नये सन्दर्भ में समझने और समुचित प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास स्पृहणीय है।

गुप्त जी का काव्य अपनी व्यापकता मे पाठकों का गंभीर रूप में सांस्कृतिक प्रशिक्षण करता है। वह जातीय संवेदना की बनावट और बुनावट को समझने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।

गुप्त जी जिस युग के प्रतिनिधि कवि हैं, उसमे कई अन्य कवियों ने भी काव्य भाषा की उपलब्धि के संघर्ष में अपने ढंग से भाग लिया है। श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ठाकुर गोपालशरण सिंह, नाथू रामशंकर, रामनरेश त्रिपाठी-जैसे महत्त्वपूर्ण कवियों की भूमिका, खड़ी बोली को बोलचाल की भाषा से उठाकर कविता की समर्थ भाषा में ढाल देने में कम महत्त्व की नहीं है। परन्तु गुप्त जी का संघर्ष इसलिए अलग से विवेचन-विश्लेषण के योग्य है कि उन्होंने *भारत-भारती* की रचना की है। राष्ट्रकवि द्विवेदी जी के काव्यानुशासन को मानने के कारण तो विशिष्ट हैं ही, उनमें लोकमर्यादा और नैतिकता की भारतीय जीवन-दृष्टि विवरण के विस्तार में जगह पा सकी है। उन्होंने नैसर्गिक स्वच्छन्दता के कवियों के बीच होने के लिए बहुत कम लिखा। यह एक दृष्टि से उनके कवि-कर्म की सीमा है तो दूसरी दृष्टि से शक्ति की सूचना भी।

डॉ. रामविलास शर्मा ने आचार्य द्विवेदी के रीतिवाद विरोधी अभियान में गुप्त जी के वैचारिक और रचनात्मक योगदान का गंभीर और सुविस्तृत मूल्यांकन किया है। डॉ. शर्मा की दृष्टि में, "गुप्त जी द्विवेदी-युग के समर्थ गद्य-लेखक और आलोचक भी थे।"

गुप्त जी अपनी ज्ञानात्मक संवेदना को काव्य के विविध प्ररूपों में कलात्मक क्षमता के साथ व्यक्त करते हैं। उन्होंने समय-समय पर अन्य भाषाओं के गौरव-ग्रन्थों का पूरे मनोयोग से अनुवाद भी किया। इन बातों से गुप्त जी का स्थान हिन्दी जाति के साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व के साथ सुरक्षित हो गया है।

इस विनिबन्ध के लेखन की आधार-सामग्री मेरे मित्र श्री सुरेन्द्र प्रसाद सिंह ने उपलब्ध करायी है। उन्होंने अपने निजी पुस्तकालय से गुप्त जी का समग्र

साहित्य देकर मेरा कार्य थोड़ा आसान कर दिया। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन उनके स्नेह-भाव को आहत करने-जैसा प्रतीत होता है। गुप्तजी के जीवन और साहित्य पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें मिलती हैं। परन्तु मेरी सहायता विशेष रूप से जिन पुस्तकों ने की, उनमें श्री प्रभाकर माचवे की "मैथिलीशरण गुप्त" और डा. प्रभाकर श्रोत्रिय की "अतीत का हंस : मैथिलीशरण गुप्त" का स्थान सबसे ऊपर है। कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं के मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक भी तथ्यों के संकलन में सहायक हुए।

—रेवती रमण

अनुक्रम

1

ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि

मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व-निर्माण और कवि-कर्म की सुस्पष्ट ऐतिहासिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि है। यह पृष्ठभूमि गहरे अर्थों मे भारतीय राष्ट्रीयता एवं आधुनिक-बोध के विकासशील स्वरूप का सुदृढ़ आधार कही जा सकती है। गुप्त जी जिस युग की चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, हिन्दी कविता के इतिहास में उसे 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। यह युग खड़ी बोली की कविता का एक तरह से आरंभिक युग है और अपनी इतिवृत्तात्मकता के लिए विशेष रूप से पहचाना जाता है। किन्तु देखना यह है कि अपनी प्रशस्त इतिवृत्तात्मकता में ही यह युग हमारी जातीय संवेदना की पहचान के लिए आतुर है। इस अर्थ में गुप्त जी और उनके समकालीन कवियों का काव्य नये दौर की रचनाशीलता को समझने के लिए एक गंभीर ऐतिहासिक अनिवार्यता है। निस्सन्देह, वह युग आधुनिक हिन्दी कविता के भव्य भवन-निर्माण के लिए प्रचुर संसाधनों के संकलन का युग था और द्विवेदी जी के निर्देशन में उस युग की कविता ने प्रयोजन को कवित्व की तुलना में प्राथमिकता दी। विशेषतः, गुप्त जी की जैसी कवि-प्रकृति थी, उसे देखते हुए, यह समझना मुश्किल नहीं है कि अपने समय के दबाव को अस्वीकार कर इतिहास की धारा में वह शायद ही दृश्यमान हो पाती। गुप्त जी की कविता एक खुले व्यक्तित्व का प्रकाशन है, जो अपने समय की आवाज से कान लगाये एक अशान्त सामाजिक की छवि प्रस्तुत करती है। विभिन्न ज्ञानानुशासनों के प्रति द्विवेदी-युग की कविता पूरे अस्तित्व से सजग प्रतीत होती है और एक ऐसे समय को प्रतिरूपित करती है जो बिना किसी विलम्ब के पुरातन गुरुत्व को टटोलकर उदग्र नवागत को शीघ्रातिशीघ्र सजाने-सँवारने के लिए प्रयत्नशील है। उसे अपने दीर्घ जीवन और स्थायित्व की चिन्ता उस तरह तो कम-से-कम नही ही है, जिस तरह परवर्ती काव्य-काल में लक्षित हुई। द्विवेदी-युग निजी स्पन्दनों और निजी उपलब्धियों की बेचैनी से वंचित है। उसका निजी वैशिष्ट्य शायद उतना भी बहिर्मुखी नहीं लगता जितना भारतेन्दु और उनके साथियों का। शायद तब राजनीति की तरह काव्य के क्षेत्र में भी मन-वचन-कर्म में एकरूपता का आधिपत्य हो चला था। इस क्षेत्र में कुछ पाने की जगह गँवाने की लालसा अकुण्ठ रूप में मुखर हुई है। उस काल की

कविता बलिपन्थी की भावना को ही अधिकांश में व्यक्त कर रही है–

मैं जेल में पड़ा हूँ, हाथों में हथकड़ी हो
सादी सजा हो अथवा, वह खूब ही कड़ी हो
कोड़ों की मार मुझपर चाहे बहुत पड़ी हो
मेरी प्रवृत्ति लेकिन इस बात पर अड़ी हो
उड़ जाय बोटियाँ भी छोड़ न देश-सेवा
या तो स्वतन्त्र होंगे या काल का कलेवा
(रूपनारायण पाण्डेय)

द्विवेदी-युग का कवि अपने लिए कुछ नहीं चाहता। जो कुछ पाना है, देश और जाति के भले के लिए पाना है। स्वभावतः कई बातें परस्पर गुँथ गई हैं। कवि-कर्म, समाज-सुधार, राजनीति एक-दूसरे के क्षेत्र में बेझिझक आवाजाही कर रहे हैं। जीवन और ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में द्विवेदी-युग निश्छल आत्मोत्सर्ग की भावना से प्रेरित-अनुप्राणित है। उस युग का व्यक्ति, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में सक्रिय क्यों न हो, अपने कर्मों के बल पर एक ऐसी विचारधारा में पर्यवसित हो जाना चाहता है, जिसका हमारी जातीय चिन्ताधारा से मेल हो।

डॉ. रामविलास शर्मा जिसे हिन्दी नवजागरण की पहली मंज़िल मानते हैं, वह अर्थात-"सन सत्तावन की राज्य क्रान्ति" सफल हुई अथवा विफल, इससे कहीं महत्त्व की बात यह है कि भारतीय मनीषा के प्रयत्न-पक्ष को उभारने में उसका विलक्षण योगदान है। भारत की जनता की पराधीनता की वेदना अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार के समानान्तर और अधिक गहरी होती गई। परिणामतः उससे मुक्ति के प्रयत्न भी अनेक स्तरों पर किये जाने लगे। राजाराम मोहन राय और केशवचन्द्र सेन के व्यापक युगान्तरकारी प्रयत्नों की चर्चा न करें तो भी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, बालगंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गाँधी, एनी बेसेण्ट, जगदीशचन्द्र बसु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्तित्व-संपन्न प्रतिभाशाली लोग किसी एक ही क्षेत्र में सक्रिय नहीं थे। द्विवेदी युग का कवि आधुनिक काल के किसी भी संवेदनशील बुद्धिजीवी से कम सजग नहीं था। इस युग के पूर्ववर्ती स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो थोड़े समय में ही युगान्तरकारी साहित्य का सृजन किया था, उसमें सभी शामिल थे।

मध्यकालीन पुनर्जागरण-वाले दार्शनिक-सन्त-भक्त और आधुनिक काल के नवजागरण के प्रायः सभी मील-स्तम्भ हरिश्चन्द्र की चेतना को आलोकित कर रहे थे। गुप्त जी के सन्दर्भ में उनके युग की चेतना का निर्माण और पोषण करने वाली अखिल भारतीय बहुआयामी मनीषा भी उतने ही सम्मान के साथ स्मरणीय ठहरती है, जितने सम्मान के साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सन्दर्भ में।

अत्यन्त संक्षेप में, भारतेन्दु के युगान्तरकारी व्यक्तित्व में विधिवत पहला बार अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की चुनौती को वास्तविक अर्थों में स्वीकार करने की दृढ़ता लक्षित होती है। स्वदेशी, स्वभाषा और आर्थिक आत्म-निर्भरता को उन्होंने अपनी निश्छल भक्ति-भावना के बावजूद साहित्य में जातीय मूल्य की तरह प्रतिष्ठित किया। "अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै सब धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी। "के साथ "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल" की रचनात्मक समझ के साथ हरिश्चन्द्र एक साहित्यकार की आधुनिक संवेदना और दायित्व-निर्वाह के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसके आलोक में "साहित्य को राजनीति के आगे जलती मशाल" का गौरव मिलता है। क्योंकि भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी ने बाद में इन मूल्यों को आत्मसात करके ही अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से भारत की जनता को मुक्ति दिलायी। हरिश्चन्द्र अपनी ज्ञानात्मक संवेदना की प्रखर अभिव्यक्ति के बल पर ही रीतिवाद के अन्तःपुर से बाहर आकर दस तरह के लोगों के बीच उठने-बैठने लगे थे। अवश्य, उनके सहयोगी लेखको की जमात भी प्रभावशाली है। इसमें प्रतापनारायण मिश्र हैं, बालकृष्ण भट्ट हैं और सबसे बड़ी उपस्थिति राधाचरण गोस्वामी हैं।

भारतेन्दु-युग की इस गंभीर ऐतिहासिक विरासत के साथ द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों का अपना समाज-बोध तीव्र रूप से उस युग की कविता में व्यक्त हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि गुप्त जी की समकालीन राजनीति जटिल से जटिलतर होती गई हैं। सन अट्ठारह सौ पिचासी में जिस अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस् की स्थापना हुई थी, वह समय के साथ जनोन्मुख होती गई है। उस युग का समाज भी परिवर्तन की गति को महसूस कर रहा था। एक बार जब सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लग गया और मैकाले की शिक्षा-पद्धति अस्तित्त्व में आ गई, तब उसके अन्तर्विरोधों के साथ उसकी उपलब्धियों का रंग भी समय के साथ निखरता गया। गुप्त जी के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय और स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त श्रीधर पाठक की कविताओं मे भारतीय समाज समग्रता में आलोचना का विषय बना है। इस कार्य में कोई किसी से पीछे नहीं रहना चाहता था।

मैथिलीशरण गुप्त अपने समय के प्रति सर्वाधिक समर्पित अपने युग की वेदना का भार वहन करनेवाले एक विनम्र कवि हैं। उन्होंने कोई दावा नहीं किया। फिर भी समकालीनों के बीच अपने युग का अतिक्रमण कर पाने में उन्हें सफलता मिली है तो इसके पीछे एक बड़ा कारण है, अतीत और भविष्य के बीच की अविच्छिन्न कड़ी के रूप में उनके द्वारा किया गया वर्तमान का मूल्यांकन। उन्हें देश-दशा

की अप्रतिम समझ है। एक गहरे दायित्व-बोध के साथ उन्होंने विनम्रता का आदर्श प्रस्तुत किया है। एक साक्षात्कार में गुप्त जी ने स्वीकार किया था कि राष्ट्रभाषा के सन्दर्भ मे वह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऋणी है और राष्ट्रीय भावना के लिए महात्मा गाँधी के। द्विवेदी जी और महात्मा जी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के अमर व्यक्तित्व हैं किन्तु प्रसंगवश, गंगाशरण सिंह ने इस धारणा का खण्डन किया है कि "मैथिलीशरण जी राजनीति में गॉधी जी के चलते आये या गॉधी जी से उनकी राजनीति शुरू हुई। गॉधी जी भारतीय रंगमंच पर 1915-16 के चम्पारण आन्दोलन से आये और (1916) से उनका भारतीय राजनीति पर वर्चस्व आरंभ हुआ, लेकिन मैथिली शरण गुप्त जी ने इससे बहुत पहले 1911-12 में ही *'भारत-भारती'* लिखी और अन्य राष्ट्रीय रचनाएँ कीं।"

गुप्त जी की काव्य-वेदना भारतीय समाज के भीतर नवीन चेतना के आकार लेने और क्रमशः उसके विकसित होते जाने के साथ-साथ घनीभूत होती गई। लगभग छह दशकों की सुदीर्घ कालावधि में इस वेदना का प्रसार है। इस बीच हिन्दी कविता के कई आन्दोलन घटित हुए हैं। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता सरीखे काव्यान्दोलन आधुनिक साहित्येतिहास की मुख्यधारा में चर्चा के विषय बने हैं। गुप्तजी इन आन्दोलनों की गिरफ्त से छूटकर भी समय के यथार्थ का सामना करते हैं। उनका काव्य-स्वर भारतीय किसान और नारी जाति के प्रति अपनी संवेदना मे सतत रचनात्मक, प्रगतिशील और कालानुसरण की क्षमता का उदाहरण बना रहा। उनका समूचा काव्य-समय उतना ही कोलाहलपूर्ण है जितना भारतेन्दु का। अन्तर है तो इतना ही कि पाश्चात्य और भारतीय बौद्धिकता के द्वन्द्व और तनाव में वृद्धि के साथ राजनीतिक स्तर पर उनके युग में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की चुनौतियाँ और अधिक प्रबल हो गई हैं। राजनीतिक पराधीनता और सामाजिक आर्थिक वैषम्य की वेदना उनके काव्य में निरन्तर बहिर्मुखी और सरल अभिव्यक्ति की दिशा में अग्रसर है पर वे अन्त तक कवि-कर्म के नैतिक और प्रयोजनधर्मी विकल स्वरूप का पता देते है। गुप्त जी उस काल के कवि हैं जिसमें बालमुकुन्द गुप्त सरीखे तेजस्वी लेखक महसूस कर रहे थे कि "भारत में अब कवि नहीं है, कविता भी नहीं है। कारण है कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश देश था और यहॉ के लोग स्वाधीन थे, तब यहॉ कविता होती थी। उस समय की जो बची-खुची कविता अब तक मिलती है, वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिए अपने देश की बातें, अपने देश का सत्व और मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में ये बातें कहाँ ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या। इससे इसे तुकबन्दी कहना ही ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने देश का रोना होता है और कुछ

अपनी हीन दशा पर पराई हँसी आती है। "स्वयं द्विवेदी जी भी अपने समय की कविता के बारे में कमोबेश ऐसी ही मानसिकता का पता देते हैं। परन्तु इसे उनका हीन-भाव नहीं समझना चाहिए। ये सत्य को स्वीकार करने का साहस रखते थे और कवियों को एक सांस्कृतिक दायित्व के अन्तर्गत कविता-रचना के लिए निरन्तर उत्साहित करते थे। अभ्यास करते-करते शायद कोई बात बन जाय। कविता हो न हो, इससे बड़ी बात यह है कि गुप्त जी और उनके समकालीन भारतीय जीवन-मूल्यों और आर्यत्व की प्रतिष्ठा के लिए तत्पर हैं और कविता का एक ज्ञानगर्भ, उत्सुक और युयुत्सु चरित्र रचते हैं।

प्राचीन भारत गुप्त जी के सामने एक कसौटी की तरह है। चाहे वह वर्णाश्रम व्यवस्था हो अथवा नारी की पूजा, द्विवेदी युग का कवि प्राचीन की पुनर्प्रतिष्ठा की भावुकता से वंचित नहीं है। उसकी दृष्टि मे प्राचीन जीवनादर्शों और कर्म-योग को प्रतिरूपित करने वाली दिनचर्या को त्याग देने से ही भारतीय समाज ने अपनी वास्तविक चमक खो दी है। भारतेन्दु ने 'नारी-नर सम' का प्रस्ताव किया था, द्विवेदी-युग के कवियों ने उन्हें जीवन और दिनचर्या में संघर्ष के धरातल पर संहयोगी और एक दूसरे का प्रसन्न पूरक बनाने का प्रयास किया है। द्विवेदी-युग की कविता में सामन्ती अन्तर्विरोधों पर प्रहार करती नारी-चेतना अपने समय के संताप को ही व्यक्त करती है। छायावाद में देवी, माँ, सहचरी, प्राण के रूप में उसकी प्रतिष्ठा द्विवेदी युगीन नारी-भावना का ही विकास है।

नारी के साथ-साथ द्विवेदी-युगीन काव्य में वर्णित भारतीय किसान का संघर्ष उस युग की लोकवादी मनीषा का सर्वाधिक सटीक उदाहरण है। अंग्रेज़ी सरकार के षड्यन्त्रों से हमारे गृह उद्योग चौपट हो चले थे। कृषि के उपयुक्त उपजाऊ जमीन प्रचुर थी, पर अतिवृष्टि-अनावृष्टि के कारण अनाज का उत्पादन जितना होना चाहिए था, उससे बहुत-बहुत कम होता था। किसानों को अपना गाँव-घर छोड़कर रोटी की जुगाड़ में फ़िजी आदि देशों में पशुतुल्य जीवन व्यतीत करना पड़ता था। श्री रजनी पाम दत्त ने पर्याप्त तथ्यों के साथ "आज का भारत" में दिखाया है कि अट्ठारह सौ सत्तावन के बाद भारत में ब्रिटिश शासन की नीति कैसे और अधिक संकीर्ण और अनुदार होती गई। "भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद अपनी कठपुतली के रूप में राजाओं-महाराजाओं को सुरक्षा प्रदान करता है और उन्हें मजबूत बनाता है। वह प्रतिक्रियावादी सामाजिक और धार्मिक अवशेषों को बनाए रखना चाहता है और उनमें सुधार के लिए प्रगतिशील भारतीय जनमत द्वारा की जानेवाली माँगों के विरुद्ध वह उनकी उत्साहपूर्वक रक्षा करता है। वह दमन का व्यापक ढाँचा तैयार कर बोलने और विचार व्यक्त करने पर रोक लगाता है और

भारतीय जनता की सामाजिक-शैक्षणिक तथा औद्योगिक प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाता है।" इस परिदृश्य को दृष्टि-पथ में रखकर विचार करें तो गुप्त जी और द्विवेदी-युग के अन्य कवियों की रचनाएँ निश्चय ही उस व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन की समर्थ गतिविधि के रूप में दिखाई देंगी, जिसे हिन्दी नवजागरण की तीसरी मज़िल के रूप में पहचाना गया है।

राष्ट्रकवि की सुदीर्घ कविता-यात्रा की पृष्ठभूमि एक ऐसे समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है, जब हमारे जातीय जीवन में परिवर्त्तनों का सिलसिला चल रहा था। यह स्थूल रूप में भी नित्य नवीन घटनाओं और हलचलों का काल था। स्वदेश में और उसके बाहर विश्व के रंगमंच पर 'मानव की जय-यात्रा' के अनवरत दृष्टान्त मिलेंगे। कांग्रेस के वैचारिक और राजनैतिक स्वरूप में मध्यवर्गीय व्यवहारों की जगह क्रमशः जनसाधारण की चिन्ता प्रबल होती गई। विशेषतः महात्मा गाँधी के नेतृत्व में नरम और गरम का विभाजन महत्त्वपूर्ण न रहकर रचनाशील और गतिशील प्रयत्न ही प्रमुख हो चले। पर विश्व के रंगमंच पर जब जापान-जैसे एक छोटे-देश ने रूस जैसे शक्तिशाली देश को युद्ध में पराजित कर दिया, तब ईरान, तुर्की, भारत आदि देशों मे स्वातन्त्र्य-आन्दोलन में सक्रिय लोगों को संघर्ष करने की एक नई प्रेरणा मिल गई। लगभग इसी समय बंगाल का विभाजन हुआ और बंकिम का "आनन्द मठ" और विशेषतः "बन्दे मातरम्" गीत जनता के बीच समादृत हुआ। मार्ले-मिण्टो-सुधार (1909), जॉर्ज पंचम (1910) का आगमन नरम दल वालों का अंग्रेज़ी सरकार के प्रति प्रस्ताव लाकर राजभक्ति प्रकट करना और तिलक की घोषणा कि "आज़ादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"—जैसी ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाएँ समानान्तर रूप से घटित हुईं। 1909 में मार्ले-मिण्टो-सुधार के द्वारा भारत के मुसलमानों को प्रथम निर्वाचन का अधिकार दिया गया। इससे सामाजिक सद्भाव को ठेस पहुँची। अंग्रेज़ सन-सत्तावन के पहले से ही शैक्षणिक व्यवस्था और भाषा-नीति में सांप्रदायिकता का विष मिलाकर भारत की जनता को विभाजित करने का प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु भारतीय साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आधुनिक-बोध की गति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में दयानन्द-विवेकानन्द और राजनीति में महात्मा गाँधी के संघर्षों से भारतीय जनता की स्वातन्त्र्य चेतना स्पष्ट आकार ले सकी। विवेकानन्द हिन्दुत्व को गहरे मानवीय सन्दर्भों में रचनात्मक प्रतिष्ठा देनेवाले एक आधुनिक सन्यासी थे। उनके भाषणों से हिन्दुत्व की उदारता, परदुःखकातरता और जातीय-श्रेष्ठता यूरोपीय और अमेरिकी समाज की समझ में आने लगी। इधर गाँधी जी तो मानो विश्व भर के दलितों की पीड़ा-वेदना को प्रतिनिधित्व देने के लिए ही अवतरित हुए थे। उन्होंने

कांग्रेस और देश की राजनीति को ही दिशा नहीं दिखाई, बल्कि वचन और व्यवहार मे एकरूपता का उदाहरण प्रस्तुत कर आधुनिक सस्कृतिकर्मियों का भी मार्गदर्शन किया। उनमें गहरा संयम और आत्मबल था, जिससे हमारे राष्ट्रकवि का प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक था।

गुप्त जी ने अपने समय को निर्माण और ध्वंस के बीच प्रफुल्ल और उदास के साथ देखा। दो-दो भीषण विश्वयुद्धो की विनाश-लीला, सन 1717 की रूसी राज्य क्रान्ति, जलियाँवाला हत्याकाड, जमीन्दारी-प्रथा और दास-प्रथा का ताण्डव, सन्' 1942 की क्रान्ति, सन्' 1947 में भारतीय स्वातन्त्र्य का जन-स्वप्न साकार होना, भारत-विभाजन, राष्ट्रपिता की नृशंस हत्या, पंचशील और हिन्दी-चीनी भाई-भाई के आख्यान का त्रासद उपसंहार (भारत पर चीनी आक्रमण), राष्ट्रभाषा हिन्दी की आजाद भारत मे गहरी उपेक्षा—ये कुछ स्थूल प्रसंग है जो गुप्त जी की कविता-यात्रा के समानान्तर कवियों को कहीं उत्प्रेरण की तरह तो कहीं अवचेतन का हिस्सा बनकर वेदना-विह्वल करते रहे हैं। इसमें वीर भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि के आत्मोत्सर्ग और स्वदेशानुराग का इतिहास भी शामिल है। गुप्त जी सिख गुरुओं के त्याग और बलिदान को इतिहास के प्रासंगिक परिप्रेक्ष्य में स्मरण करते हैं।

तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व-निर्माण और कविता-यात्रा में लक्ष्यनिष्ठ आसक्ति को निरन्तर बहिर्मुखी और मूर्त होने के जो अवसर मिले हैं, उनमें न केवल उनके पारिवारिक संस्कारों की भूमिका है, बल्कि इसमें उनके समय के समाज और विश्व जीवन की मानवीय समस्याओं और तनावों ने खुलकर हिस्सा लिया है। गुप्त जी पलायन नहीं करते। वे भावात्मक ऐक्य के लिए युद्ध क्षेत्र में भारतीय अस्मिता की पक्षधरता के साथ पूरे साहस और विश्वास से खड़े दिखाई पड़ते हैं। उनके 'राष्ट्रकवि' के रूप में सर्वमान्य और निरन्तर प्रतिष्ठित होते जाने के कारण उनकी कविता में उपस्थित हैं।

2

राष्ट्रकवि का जीवन-वृत्त

मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के एक ऐसे कवि हैं, जिन्हें राष्ट्रकवि होने का गौरव प्राप्त है। हिन्दी जाति की संवेदना और संस्कारो को उन्होंने पूरी क्षमता से अभिव्यक्ति दी है। कदाचित् इसी कारण से अखिल भारतीय स्तर पर उन्हें जातीय और सांस्कृतिक भावधारा में अग्रणी कवियों की श्रेणी में रखा जाता है। विशेषतः उस काल-खण्ड में जब काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली का स्वरूप निखरा नहीं था, बल्कि माना जाता था कि वह कानों को खटकने वाली भाषा है—गुप्त जी ने *भारत-भारती* और *जयद्रथ-वध* लिखकर खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि की लोकप्रियता और प्रयोजनधर्मिता के निर्वाह की क्षमता के श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किये। गुप्त जी भारत की, विशेषतः प्राचीन भारत की सांस्कृतिक गरिमा से लगभग अन्त तक अभिभूत रहे परन्तु अपने समय की वेदना को भी पूरा-पूरा आत्मसात कर उन्होंने भारत के वास्ततिक दलितों को अपनी कविता में प्रतिष्ठा दी। किसानों और स्त्रियों की वास्तविक वेदना को पहली बार उनके ही काव्य में समन्वित अभिव्यक्ति मिली। कविता उनके लिए माध्यम थी—जातीय संवेदना की अभिव्यक्ति से स्वातन्त्र्य की उपलब्धि के संघर्ष में शामिल जन के जीवन में नई चेतना, नये प्राण फूँक देने का असाधारण कार्य उन्होंने संपन्न किया था। स्वाधीन भारत को गुप्त जी के कवि-कर्म का आभार मानना चाहिए। इस दृष्टि से गुप्त जी हिन्दी के अमर कवि हैं। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में अपनी पहचान बनाकर उन्होंने परवर्ती-युग में भी यथासंभव अपनी सक्रियता का अहसास कराया। आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में विभिन्न काव्यान्दोलनों के बावजूद, समान्तर रूप से गुप्त जी की उपस्थिति ध्यानाकर्षण करती रही। एक व्यक्तित्व-संपन्न वैष्णव कवि, जिसे कई कारणों से गोस्वामी तुलसीदास के बाद स्वदेशी संस्कारों और जातीय संवेदना के बड़े कवि के रूप मे याद किया जाता है और जिसकी कविताओं का हिन्दी भाषी जनता से सीधा हृदय-संवाद हुआ है—मैथिलीशरण गुप्त के रूप में हमारी राष्ट्रभाषा को उपलब्ध हुआ। ऐसे कवि का जीवन-वृत्त जानना प्रकारान्तर से अपने जातीय सांस्कृतिक इतिहास की वेदना से साक्षात्कार की तरह ही

अनुभवगम्य होना चाहिए।

गुप्त जी का जन्म झाँसी ज़िले के एक गॉव (खेड़ा) चिरगॉव में 3 अगस्त, 1886 को एक वैष्णव वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण कनकने 'कनकलता' उपनाम से भक्ति भाव की कविताएँ लिखते थे। इससे कविता लिखने की प्रवृत्ति गुप्त जी को अपने कवि पिता से विरासत में मिली। स्वयं गुप्त जी ने श्री शिवचन्द्र नागर को एक साक्षात्कार में बताया था कि "अपने पिता की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर ही उन्होंने बाल्यकाल में ही कविता लिखना शुरू कर दिया था।" यह अलग बात है कि उनके पिता नही चाहते थे कि मैथिलीशरण जी कवि बनें। वे तो अपने बेटे को अंग्रेजी पढा-लिखा कर डिप्टी कलक्टर बनाना चाहते थे। परन्तु गुप्त जी को तो कवि ही बनना था।

गुप्त जी के पूर्वज सत्रहवीं शताब्दी में भाण्डेर से चलकर चिरगॉव में बस गये थे। "भाण्डेर चिरगाँव से चौदह मील दूर ग्वालियर की ओर है। मैथिलीशरण जी के परदादा राघवजू इसी बस्ती मे व्यापार करने लगे। ये लोग गहोई वैश्य या बनिया थे और कनकने कहलाते थे। 'कनकने' के दो अर्थ हैं। एक तो जल्दी गुस्सा करनेवाला और दूसरा किसी के आगे न झुकनेवाला बहुत गंभीर। कनकने जाति के बारह गोत्र और बहत्तर ऑकने या 'अंल्ल' होते थे। रामचरण कनकने बड़े प्रसिद्ध पैसेवाले सेठ थे। उनके मकान का फाटक बहुत बडा था। उनका मकान भी बहुत बड़ा था और घी का गोदाम था। उनके यहाँ कई तरह के रथ, बड़ी और मझोली सेजगाड़ी, कई तरह की घोडा गाडियॉ और बग्घियॉ थीं। बहुत से नौकर-चाकर थे। बैल, घोड़े, ऊँट, हथियार-बन्द सिपाही भी थे। राघवजू ने जो कपास और घी *का व्यापार शुरू किया वह चार पीढ़ियाँ तक आगे भी चलता रहा।" (प्रभाकर* माचवे, मैथिलीशरण गुप्त पृष्ठ 11) परन्तु बाद में व्यवसाय में रामचरण जी को उनके साथियों ने धोखा दिया, उनके साथ साजिश की और उनके कपास और घी के गोदामों में आग लगा दी। इससे जो घाटा हुआ, उससे रामचरण जी बड़े दुखी हुए और शायद दु:ख को भुलाने के लिए ही उन्होंने भगवान की शरण ली।

उनकी भक्तिपरक कविताएँ भी इसी मनोदशा में लिखी गईं। वे मूलनाम से कविता नहीं लिखते थे वरन 'कनकलता', 'स्वर्णलता', 'हेमलता' आदि उपनामों से ही कविता-रचना करते थे। रामचरण की दो पुस्तकें उपलब्ध हैं– *'रहस्य रामायण'* और *'सीता-राम दम्पती'*।

काव्य-सृजन के साथ-साथ स्वदेशानुराग भी गुप्त जी को अपने पिता से विरासत में मिला। उनके पिता को अंग्रेजी राज मे रायबहादुर की पदवी देकर ऑनररी मजिस्ट्रेट बनाने का प्रस्ताव किया गया था। पर उन्होंने दोनों से इनकार कर दिया था। रामचरण जी बडे प्रभावशाली आदमी थे। ओरछानरेश उनका बहुत

सम्मान करते थे। वे बड़े दानी और शिक्षा-प्रसार मे रुचि रखनेवाले मनुष्य थे। झाँसी में जब मैकडोनल हाई स्कूल बनाया गया तब उसमें रामचरण कनकने ने भी तीन हज़ार तीन सौ रुपये दान दिये थे।

गुप्त जी के धार्मिक संस्कारों पर उनकी माता काशी बाई का गहरा असर था। काशी बाई रामचरित मानस का नियमित पाठ करती थी। रामकथा में गहरी रुचि गुप्त जी के मन में माँ के प्रभाव के कारण ही हुई। गुप्त जी के कुलदेवता सीता और राम थे। उनका नामकरण 'मैथिली' अर्थात् सीता की शरण पर रखा गया था। संयुक्त परिवार और गाँव की प्रकृति राष्ट्रकवि की प्राथमिकता उनके संस्कारवश ही बने थे। उनके कवि-व्यक्तित्व में मराठी और बुन्देलखण्डी संस्कृतियाँ और आचार-विचारों का मिश्रण हो गया था।

गुप्त जी का बाल्यकाल आर्थिक संपन्नता में व्यतीत हुआ। जिन दिनो गुप्त जी अपने बडे भाई राम किशोर जी के साथ मदरसा मे पढ़ने गये, उन्हीं दिनों की स्मृति लिखते हुए मुंशी अजमेरी उनके बाल्यकाल की एक झलक दिखाते हैं– "वे पैरों में चाँदी के कडे तोड़े, गले में गोप (सोने का एक गहना) और कानों में दुगबच्ची मोतियों के झुमकियों वाले बाले पहने हुए थे। ढीली-ढाली धोतियाँ, कुरतों के ऊपर देशी कोट (अंग्रेज़ी काट की नहीं) कलीदार और लाल मख़मल की ज़री के कामवाली टोपी–यही उनकी पोशाक थी।

मैथिलीशरण जी अपने सहयोगियों की तुलना में थोडे लापरवाह थे। सहपाठी उनके बरते में से कलम और कागज़ निकाल लेते थे और उनकी दवातों से स्याही अपनी दवातों में उड़ेल लेते थे। परन्तु बालक मैथिलीशरण जी अपने सहपाठियों के इन कार्यों का बुरा नहीं मानते थे। तीसरे दर्जे तक उनकी पढाई चिरगाँव के मदरसे में ही हुई। बाद मे उनका दाख़िला झाँसी के मैकडोनल स्कूल में कराया गया।

"झाँसी जाते हुए गाँव के सहपाठियों से बिछुडने का दुःख बालक मैथिलीशरण के लिए स्वाभाविक ही था"। वहाँ का मैकडोनल स्कूल उस समय के महत्त्वपूर्ण शिक्षा संस्थानों मे गिना जाता था, जिसके निर्माण में रामचरण कनकने ने ही सबसे अधिक चन्दा दिया था। मैथिलीशरण ने वहाँ दाखिला तो ले लिया पर जल्दी ही स्कूल की पढ़ाई से उनका मन ऊब गया। स्कूल में पढने-लिखने से अधिक उनकी रुचि खेलने-कूदने में ही थी। मुंशी अजमेरी लिखते हैं कि "उस समय जब मैंने मैथिलीशरण जी को देखा तो उनकी विचित्र दशा थी। उस समय आपको चकरी-फिरानी और पतंग उड़ाने का बडा शौक था। चकरी के हज़ार-हज़ार, डेढ-डेढ हजार चक्कर हो जाते और चकरी नहीं रुकती थी, बराबर चलती रहती थी। हाँ, उसकी डोरी टूट जाये तो लाचारी थी। ऐसा अक्सर होता था कि बलखाते-खाते

चकरी की डोरी टूट जाती थी।" (महाराष्ट्र मानस मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक)

स्कूल की औपचारिक शिक्षा में गुप्त जी की रुचि शुरू से ही नहीं थी। हाँ, लोक-कला, लोक-संगीत, लोक-नाटक, लोक-नृत्य आदि में उनकी शुरू से ही गहरी रुचि थी। मैथिलीशरण जी की इस मनोदशा को उनके पिता रामचरण कनकने ने समझ लिया और जल्दी ही उन्हें झाँसी से चिरगाँव बुला लिया। प्रसंगवश, बातचीत में एक बार गुप्त जी ने कहा था– "मैं पढ़ाई क्यों करूँगा ? मैं पढ़ने के लिए पैदा नहीं हुआ हूँ। लोग-बाग मुझे पढ़ेंगे।" इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि गुप्त जी बिना पढे ही इतने बड़े कवि और भारत के राष्ट्रकवि बन गये। रवीन्द्रनाथ की तरह उन्होंने स्कूल की यान्त्रिक शिक्षा की तुलना में स्वाध्याय को प्राथमिकता दी। उन्होंने अनेक भारतीय भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। बंगला, मराठी जैसी भाषाओं का ज्ञान उन्हें शुरू में ही हो चला था।

प्रभाकर माचवे ठीक ही लिखते हैं कि, "मैथिलीशरण गुप्त की स्कूल या कॉलेज में पढ़ाई चाहे न हुई हो, पर ज़िन्दगी की खुली किताब से उन्होंने खूब सीखा।"

वही असली पढाई होती है एक कवि की। "घर से, माँ-बाप से, भाई-बहनों से जो संस्कार मिलते हैं, दोस्तों-साथियों से जो प्रेम मिलता है, जो बातें जानने को मिलती हैं, वे पुस्तकों के ज्ञान से कहीं अधिक कीमती होती है।"

गुप्त जी का विवाह सन् 1895 ई. में हुआ। उस समय उनकी उम्र कुल नौ साल की थी। उनका विवाह काफी धूमधाम से हुआ था। 'बारात दतिया गई थी और किले के आगे रुकी थी। सेठ रामचरण बड आदमी थे, कोई काम करते थे तो पूरे आडम्बर के साथ करते थे।' मुंशी अजमेरी लिखते हैं कि वह भी अपने पिता के साथ बारात में शामिल हुए थे। बारातियों की संख्या इतनी अधिक थी कि दतिया के किले में समा नहीं पायी। बहुत-से बाराती इधर-उधर ठहरे हुए थे। शादी के पाँच वर्ष बाद गौना हुआ यानी वधू घर आयी। लेकिन दूल्हा-दुल्हन तीन वर्ष भी साथ-साथ नहीं रह सके। सन 1903 ई. में उन्हें पहला बच्चा हुआ परन्तु तत्काल बाद बच्चा और माँ दोनों की मृत्यु हो गई। गुप्त जी सत्रह साल के जब हुए, तब उनके पिता का देहान्त हो गया । अगले वर्ष ही माताजी भी चल बसीं। घर का जो व्यापार था, उसमें भी ज़बर्दस्त घाटा हुआ। जिस साल माँ की मृत्यु हुई उसी साल मैथिलीशरण जी का दूसरा विवाह हुआ। यह भी केवल दस वर्षों तक चला। 1904 में आयी गुप्त जी की दूसरी पत्नी भी 1914 मे चल बसीं। परन्तु तब तक गुप्त जी हिन्दी के महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित और प्रसिद्ध हो चुके थे। दूसरी पत्नी की मृत्यु के दो-तीन वर्ष बाद गुप्त जी का तीसरा विवाह

हुआ और उससे छह सन्तानें उत्पन्न हुईं किन्तु एक मात्र पुत्र को छोड़ कर शेष सभी बाल्यावस्था में ही प्रभु को प्यारे हो गये. अपने जीवन-काल में दो पत्नियों तथा सात-आठ सन्तानों की मृत्यु की वेदना राष्ट्रकवि को झेलनी पड़ी।

इसमें दो मत नहीं कि गुप्त जी की किशोरावस्था और यौवन-काल संघर्ष में व्यतीत हुए। इस संघर्षपूर्ण जीवन में आरंभ से ही खास बात यह रही कि गुप्त जी कविता लिखते रहे। यह शौक उन्हें बचपन से ही था। पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि, "गुप्त जी प्रचलित काव्य-भाषा अर्थात ब्रजभाषा में ही कविता लिखते थे। उस समय की प्रथा के अनुसार उन्होंने अपना उपनाम 'रसिकेश' रख लिया था। इस उपनाम से प्रकाशित गुप्त जी की कुछ कविताएँ चतुर्वेदी जी ने देखी थीं। गुप्त जी की ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक संख्या में प्रकाशित नहीं हो सकी। ब्रजभाषा की कविता से उनका स्नेह-भाव अन्त तक बना रहा। परन्तु सुनाने का आग्रह करने पर गुप्त जी कहा करते–"मेरी बचकानी कविताएँ सुनि के काकरिहौं। तुम्हें ब्रजभाषा के बढ़िया छन्द सुनावैं।"

गुप्त जी को ब्रजभाषा छोड़ कर खड़ी बोली में कविता लिखने की प्रेरणा वस्तुतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से मिली। उन दिनों जूही (कानपुर) में बाबू सीताराम जी के आर्मी प्रेस में एक मकान लेकर द्विवेदी जी रहते थे और वहीं से 'सरस्वती' का संपादन करते थे। तभी मैथिलीशरण जी ने एक कविता प्रकाशनार्थ भेजी। कविता भेजे बहुत दिन हो गये पर वह 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं हुई। तब गुप्त जी ने कन्नौज से निकलने वाली 'मोहिनी' के संपादक को वह कविता भेज दी। वह 'मोहिनी' में प्रकाशित भी हुई। इसके कुछ दिनों के बाद वही कविता कुछ कट-छँटकर 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। साथ ही गुप्त जी को द्विवेदी जी महाराज का एक पत्र भी मिला। पत्र का आशय था कि जिस कविता को हम न छापें, लौटा दें, उसे किसी दूसरे पत्र में न छपवाओ। बक्से में बन्द करके रख दो और जिस कविता को हम छाप दें, उसे अच्छी तरह देखो, हमारे संशोधनों पर भी विचार करो कि अब क्या रूप हो गया है। द्विवेदी जी के इस पत्र को मैथिली-शरण जी ने गुरु-मंत्र समझा, फलस्वरूप उनकी प्रतिभा निखरने लगी और वह दिन भी जल्दी ही आया जब द्विवेदी जी को उनकी *'भारत-भारती'* की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करनी पडी। श्री नारायण चतुर्वेदी के अनुसार गुप्त जी की जो पहली कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, उसका शीर्षक था–'हेमन्त', उसके चार छन्द चतुर्वेदी जी ने उद्धृत किए हैं–

हेमन्त मैं महिष-अश्व-बराह-जाति,
होती प्रसन्न अति ही गज-काक-पाँति।
पुन्नाग, लोध्र तरू ये नित फूलते हैं,
भौंरे सदैव इन ऊपर झूलते हैं।।
वियोगिनी वाम महामलीन
होती दिशाएँ सबदीप्तिहीन।
अंभोज सारे बिन पत्र क्षीण,
भुजंग होते बिन वीर्य्यदीन।।
सौभाग्य से जो पति-युक्त बाला,
देता कसाला उनको न पाला।
माला नहीं वे अब धारती हैं,
विश्लेष की भाँति विचारती हैं।।
अच्छे दुसाले, सीत, पीत, काले,
हैं ओढ़ते जो बहुचित्तवाले।
तो भी नहीं मन्द अमन्द सी-सी,
हेमन्त में है कँपती बतीसी।।

यह कविता 1905 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इसी के आस-पास गुप्त जी की कुछ अन्योक्तियाँ 'वैश्योपकारक' में छपी थीं। इस बीच वे खड़ी बोली में सिद्धहस्त हो चले थे, यह बात 'श्री राघवेन्द्र' में छपी उनकी 'राघवेन्द्रस्तव' और 'सिन्धुशासन' कविताओं से स्पष्ट है। कालान्तर में द्विवेदी जी के आग्रह पर गुप्त जी ने 'व्यास-स्तवन' कविता लिखी। 'सरस्वती' एक सचित्र मासिक पत्रिका थी। उसमें जो चित्र निकलते थे, उनमें बहुतों पर द्विवेदी जी किसी से कविता लिखकर छापते थे। 'गंगावतरण' पर उन्होंने किशोरीलाल गोस्वामी से और रवि वर्मा के एक चित्र पर नाथूराम 'शंकर' से कविता लिखवाई थी। कभी-कभी द्विवेदी जी स्वयं भी किसी चित्र पर कविता लिखते थे। 'व्यास स्तवन' के दो छन्द यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं–

शुभ सौम्य मूर्त्ति तेजोनिधान
हो अन्य भानु ज्यों भासमान।
ध्यानस्थ स्वस्थ सद्धर्म्म धाम,
भगवान व्यास ! तुमको प्रणाम।।
कर ज्ञान-भानु तुमने प्रकाश
अज्ञान निशा कर दी विनाश।

कर राप शिक्षामृत-पान शुद्ध
संसार हुआ शिक्षित प्रबुद्ध ।।

इस कविता में गुप्तजी यह भी लिखते है

है विषय अहा ! ऐसा न एक,
जिसका न किया तुमने विवेक।
रचनाएँ कवियों की प्रशस्त,
उच्छिष्ट तुम्हारी है समस्त।।

'श्री राघवेन्द्र' और 'व्यास स्तवन' ये दो कविताएँ गुप्तजी के काव्य-विकास मे बीज की तरह हैं। आगे चलकर गुप्त जी ने श्रीमद्भागवत और रामायण दोनो की कथाओं का आधार लेकर एक पर एक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थो की रचना की। उनके कवि-व्यक्तित्व को शुरू-शुरू में सँवारने और एक दिशा देने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका प्रमुख रही। इसे गुप्त जी बिना किसी संकोच के स्वीकार करतें हैं। गुप्तजी के ही शब्दों में—"कदाचित् कवि तो क्या मै कुछ भी नही बन पाता, यदि आचार्यदेव (द्विवेदीजी) मुझे अँगुली पकड कर चलना न सिखाते। कवि के रूप में मुझ अनपढ पत्थर को आकार देने का कठिन कार्य यदि आचार्य प्रवर न करते तो मै सड़क का अनगढ पत्थर ही रह गया होता।"

गुप्त जी को ललित कलाओं का अच्छा ज्ञान था। उनकी विविध कलाओं में रुचि थी। इस विषय पर डॉ. आनन्द कृष्ण ने गंभीरता से लिखा है। गुप्त जी संगीत में गहरी रुचि रखते थे। वे स्वयं गाते नहीं थे, पर शास्त्रीय संगीत का उन्हे बड़ा शौक था। बनारसी ठुमरी उन्हें विशेष प्रिय थी। रागदरबारी कानड़ा भी उन्हे बहुत भव्य और आकर्षक लगता। बहुत बाद में गुप्त जी डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल राय कृष्णदास और अनुज सियाराम शरण गुप्त के साथ खजुराहो मन्दिर भी गये थे।

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में गुप्त जी ने *भारत-भारती, जयद्रथ-वध* आदि कृतियों के द्वारा रचनात्मक सहयोग तो किया ही, सन्, 1942 में राजनीति में सक्रिय होकर जेल भी गये। जेल में गुप्त जी पुस्तके पढते थे और राजबन्दी होने पर भी सामान्य बन्दियों से मिलते-जुलते। जेल में गुप्त जी ने कविताएँ लिखीं। भारत जब स्वतन्त्र हुआ, तब 1954 में उन्हें राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया गया।

संसद-सदस्य के रूप में गुप्त जी में पहले से कोई अन्तर नही आया। उनकी वेश-भूषा (खादी की धोती-कुर्त्ता और टोपी) ज्यों की त्यों रही। दिल्ली में गुप्त जी के आवास पर प्रायः प्रत्येक शाम को काव्य-कला-रसिकों की मण्डली जुटती थी। साहित्यकारों, लेखकों, कवियों, संसद-सदस्यों के अलावा साधारण काव्य-प्रेमियों,

गुप्त जी के प्रशंसकों और भक्तों की उपस्थिति को वहाँ 'दद्दा का दरबार' कहा जाता था। डॉ. नगेन्द्र इस दरबार के स्थायी सदस्य रहे हैं। उनकी इस बैठक मे सर्वश्री काका कालेलकर, मामा बेरेरकर, ताराशकर बैनर्जी, जी. शंकर कुरुप्प, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय', डॉ. मोतीचन्द्र, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रविश सिद्दीकी, डॉ. बालकृष्ण केसकर, जगदीश चन्द्र माथुर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे व्यक्तित्व-संपन्न लोग आया करते थे।

संसद में गुप्त जी अपना भाषण प्रायः पद्य में ही दिया करते थे। राज्य-सभा में राजभाषा-सम्बंधी विधेयक के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त करते हुए गुप्त जी ने एक कविता पढ़ी थी, जिसकी टेक की पक्ति थी 'अंग्रेजी के पक्षपातियों, लो अग्रेजी बनी रही।' इस कविता में गुप्त जी ने आगे लिखा था–

अवश आज हम हिन्दी-भाषी न दें देव को भी क्या दोष ?
—क्या स्वदेश का ऐक्य हमीं पर, नही आप पर कुछ दायित्व ?
—लोक तन्त्र वह क्या, नगण्य हों जहॉ बीस-बाईस करोड़ ?
—व्यापक हुई हमारी हिन्दी तो क्यों उस पर यों आक्रोश ?
—शासन करें आप थोड़े-से हम बहुतों पर जी भर के।
—कैसे हम स्वाधीन हो गये, स्वयं हमी को विस्मय है।

* * *

मैं मत देने में स्वतन्त्र हूँ, मुझे एक संतोष यही,
हिन्दी को भय नहीं किसी का, मैंने अपनी व्यथा कही,

राज्य-सभा में गुप्त जी राष्ट्रभाषा के उत्थान के लिए हमेशा दबाव बनाये रहे। यद्यपि पं. जवाहरलाल नेहरू के प्रति उनके मन में सद्भाव था और उन्होने सन् "1955 में नेहरू जी के जन्मदिन पर कविता लिखी थी–

हम निज कोटि-कोटि कुटुम्बियों की और विश्वविशाल की,
सुख-शान्ति की चिन्ता तुम्हारी सहचरी चिरकाल की।
तुम जागते हो रात में भी जब कि सोते हैं सभी,
जनमात्र की सच्ची विजय है, जय जवाहर लाल की।

तथापि राष्ट्रभाषा के प्रति गुप्त जी की संवेदना नेहरू जी की नीतियों से भिन्न थी। हालाँकि नेहरू जी गुप्त जी की बडी इज्जत करते थे। इस बात के कई दृष्टान्त प्रभाकर माचवे ने अपनी पुस्तक 'मैथिलीशरण गुप्त' में दिये हैं। गुप्त जी आजीवन स्वभाषा-राष्ट्रभाषा के रचनात्मक विकास में लगे रहे । उन्हें अपने देश से, मातृभूमि से स्वाभाविक प्रेम था और देशवासियों की स्वाधीनता और डॉ. कामेश्वर शर्मा जी की पुस्तक 'हिन्दी की समस्याएँ' से उद्धृत साभार प्रगति की

चिन्ता वे अपनी कविताओं में व्यक्त करते रहे, कभी चैन से नहीं बैठे। स्वाभाविक ही था कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने उन्हें 'राष्ट्रकवि' की उपाधि दी। भारत की जनता ने अपनी आकांक्षाओं को गुप्त जी के काव्य में व्यक्त होते महसूस किया। उन्हें लोग प्यार से 'दद्दा' कहते थे। किन्तु नियति नटी के प्रकोप से गुप्त जी बच नहीं पाए। उनके जीवन के सन्ध्या-काल में 27 मार्च, 1963 को अनुज सियारामशरण गुप्त का देहान्त हो गया। यह एक तरह गुप्त जी के लिए बज्रपात की तरह था। वे उनसे बचपन से ही जुड़े थे, दोनों भाई 'एक प्राण दो काया' थे। 'सियारामशरण' के निधन से राम-लक्ष्मण की जोडी टूट गई। 'उधर दद्दा का राज्य-सभा का कार्य-काल भी पूरा हो गया, वे झाँसी लौटे। परन्तु अनुज सियाराम-शरण के बिना उन्हें बिल्कुल सूना-सूना लगता था। इसी समय गुप्त जी ने 'सात संस्मरण' पुस्तक (जो अधूरी थी) को पूरा करने का प्रयत्न किया। परन्तु ईश्वर को शायद यह स्वीकार नहीं था। 11 दिसम्बर, 1964 की रात्रि में उन्हें जोरों से हृदयाघात लगा और बचाने के बहुत प्रयत्न के बावजूद 2 बजे उनका निधन हो गया।

गुप्त जी के अवसान पर देश के प्रायः सभी नेताओं और साहित्यकारों ने दद्दा को श्रद्धांजलि अर्पित की। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने उन्हें 'युग कवि' कहा था और अज्ञेय जी ने उन्हें अपना 'काव्य-गुरु' स्वीकार किया।

मैथिलीशरण जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की भाँति वे 'अजातशत्रु' थे। यही कारण है कि सभी विचारधाराओं, गुटों और संस्थाओं से जुड़े लेखक उनका सम्मान करते थे। महाप्राण निराला ने काफ़ी पहले लिखा था–"हिन्दी के युगान्तर साहित्य के जो तीन प्रजापति हैं, उनमें प्रसाद जी एक 'श्रद्धा देवो वै मनुः' हैं। बाकी दो स्वर्गीय प्रेमचन्द जी और बाबू मैथिली-शरण जी।" यह सच है– शतप्रतिशत सच है।

महीयसी महादेवी वर्मा लिखती हैं–

'राष्ट्रकवि' नाम उन्हें बापू ने दिया था। पर हिन्दी के अनेक भक्तों ने सह-आत्मीय संबोधन से दद्दा कहा उनको" अपने चरित्र में, अपने स्वभाव में वे राम के समान ही थे, उतने ही मर्यादावादी, उतने ही आदर्श पर दृढ़, उतने ही आचरण में सात्विक।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की स्थापना है कि 'गाँधी जी राष्ट्रपिता हैं वैसे ही सहजभाव से मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रकवि हैं। ये उपाधियाँ किसी व्यक्ति या समूह द्वारा प्रदत्त नहीं, मानो पूरे राष्ट्र के द्वारा दी गई हैं।'

3

रचना-यात्रा की संक्षिप्त रूपरेखा

मैथिलीशरण गुप्त की कविता-यात्रा ब्रजभाषा मे कविता बनाने से शुरू हुई थी। जल्दी ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर गुप्त जी खडी बोली मे कविता लिखने लगे। प्रभाकर माचवे के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि दोहा या चौपाई से ही उन्होंने शुरू किया। "आगे चलकर अभ्यास करते-करते वे अनेक छन्दों में लिखने लगे। संस्कृत छन्दो में अन्योक्तियाँ लिखीं। बचपन में लिखी गई गुप्त जी की कविताओं के नमूने नहीं मिलते, पर उस अभ्यास का उन पर बडा असर पडा।" (मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 23)

गुप्त जी की ब्रजभाषा में लिखी पहली कविता 1903 ई. में प्रकाशित हुई–'वैश्योपकारक' मासिक पत्रिका में, जिसके संपादक शिवचन्द्र जी भरतिया थे। उन्हीं दिनों झाँसी के रेलवे कार्यालय में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी काम करते थे। वहीं से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का, जो इलाहाबाद से प्रकाशित होती थी, वे संपादन करने लगे थे। एक दिन गुप्त जी उनसे घर जाकर मिले। द्विवेदी जी से भेंट मैथिलीशरण गुप्त के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उनके जीवन को इससे एक दिशा मिल गई। उनके व्यक्तित्त्व-विकास में इससे सहायता मिली। 'साकेत' के निवेदन में गुप्त जी ने इसे स्वीकार भी किया है–

करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद ?
'महावीर' का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।

'महावीर' का प्रसाद पाकर गुप्त जी द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि तो बने ही, राष्ट्रभाषा हिन्दी के सर्वमान्य असन्दिग्ध राष्ट्रकवि कहलाए। यह द्विवेदी जी की ही प्रेरणा थी कि गुप्त जी ने ब्रजभाषा को छोडकर खड़ी बोली को अपनी कविता की भाषा बनाया। 'सरस्वती' में उनकी पहली कविता 'हेमन्त' सन् 1905 ई. में प्रकाशित हुई। फिर तो वे 'सरस्वती' परिवार के स्थायी सदस्य बन गये और आगे चलकर खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवियों में उनकी गणना होने लगी। 'रंग में भंग' गुप्त जी की प्रथम काव्य-कथा है, जिसमें चित्तौर और बूँदी की दो प्रमुख घटनाओं की छन्दोबद्ध कथा कही गई है। लाल सिंह की पुत्री सर्वगुणसंपन्नता के

कारण चित्तौर के राजकुमार से ब्याही जाती है, परन्तु विवाह के तत्क्षण बाद युद्ध में उसका पति मारा जाता है। यद्यपि उसके वर के हत्यारे अपने सगे हैं, फिर भी वह पति के शव के साथ चिता पर बैठ जाती है। उत्तरार्द्ध में चित्तौर नरेश द्वारा बूंदी-दुर्ग तोडने का संकल्प किया जाता है और वास्तविक दुर्ग को तोड़ने में अक्षम होने पर कल्पित दुर्ग तोडने का प्रयास किया जाता है। किन्तु इस कल्पित दुर्ग को तोड़ने के लिए भी बूँदी निवासी भृत्य कुम्भ का उन्हें वध करना पडता है। संक्षेप में, इस काव्य-कथा में गुप्त जी पतिव्रता स्त्री और देश-भक्त युवक की अभ्यर्थना करते हैं। इसमें चित्तौरगढ़ का स्मरण बडे गौरव के साथ किया गया है–

आज भी चित्तौर का सुन नाम कुछ जादू भरा,
चमक जाती चंचला-सी चित्त में करके त्वरा।
(रंग में भंग, पृ.-5)

'रंग में भंग' के बाद गुप्त जी ने 'जयद्रथ-वध' (1910) की रचना की। इसमें 'महाभारत' के अभिमन्यु-वध के उपरान्त वाले प्रसंग को संक्षेप में बड़े आवेगपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रबन्ध-काव्य का आरंभ होता है इन पंक्तियों से–

वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही "जय जानकी जीवन" कहो,
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा तरंगों में बहो।
दुःख शोक जब जो आ पड़े, सो धैर्यपूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो।।
अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।

गुप्त जी इस कृति में दिखाते हैं कि न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देने के लिए ही महाभारत हुआ, जिसमें अधिकांश वीर व्रती मारे गये। यह महायुद्ध 'भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण बना।' 'जयद्रथ-वध' गुप्त जी की आरंभिक रचना है, सात सर्गों का व्यवस्थित प्रबन्ध-काव्य जिसमें वीरत्व-व्यंजक ओज गुण संपन्न कवित्व की प्रमुखता है। श्री अम्बादत्त पाण्डेय लिखते हैं–

'जयद्रथ-वध' में पौराणिक प्रसंग को जातीय गौरव के इतिहास में ढाल देने की बेचैनी है। वैसे, तटस्थ होकर देखा जाय तो यह पूरा काव्य महाभारत की एक कहानी मात्र प्रतीत होगा। लेकिन यदि बंग-भंग आन्दोलन के बाद जो परिवेश यहाँ बना था, उससे उत्पन्न मानसिकता को धारण करके पढ़ा जाये तो आभास होगा कि जैसे तत्कालीन भारतीय युवा पीढ़ी का आक्रोश 'जयद्रथ-वध'

के रूप में मूर्त्तिमान होकर गुप्त जी की अमर लेखनी से लिपिबद्ध हो गया है। 'जयद्रथ-वध' क्यों लिखा गया, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना यह कि यह *कब लिखा गया*।"

(आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर" 86, पृ.101)

'जयद्रथ-वध' से गुप्त जी को कवि के रूप में मान्यता मिल गई, किन्तु उन्हें अखिल भारतीय स्तर पर पहचाना गया 'भारत-भारती' (1912) से। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं– "गुप्त जी की ओर पहले पहल हिन्दी-प्रेमियो का सबसे अधिक ध्यान खींचनेवाली उनकी 'भारत-भारती' निकली, इसमें 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयों की या हिन्दुओं की भूत और वर्तमान दशाओं की विषमता दिखाई गई है, भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच-बीच मे मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी-सादी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवको को बहुत प्रिय हुई।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-416)

'भारत-भारती' की प्रस्तावना में गुप्त जी लिखते हैं–

'कोई दो वर्ष हुए, मैने 'पूर्वदर्शन' नाम की एक तुकबन्दी लिखी थी। उस समय चित्त में आया था कि हो सका तो कभी इसे पल्लवित करने की चेष्टा करूँगा।

इसके कुछ ही दिन बाद राजा साहब (कुर्रीसुदौली के अधिपति माननीय श्रीमान् राजा रामपाल सिंह) का एक कृपा-पात्र मुझे मिला, जिसमें श्रीमान् ने मौलाना हाली के *मुसद्दस* को लक्ष्य करके इस ढंग की एक कविता-पुस्तक हिन्दुओ के लिए लिखने का मुझसे अनुग्रह पूर्वक अनुरोध किया। राजा साहब की ऐसी अभिरुचि देखकर मुझे हर्ष तो बहुत हुआ, पर साथ ही अपनी अयोग्यता के विचार से सकोच भी कम न हुआ। तथापि यह सोचकर कि बिल्कुल ही न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, मैंने इस पुस्तक को लिखने का साहस किया।"

(भारत-भारती की प्रस्तावना, पृ.-5)

'भारत-भारती' की प्रस्तावना में अपनी विनम्रता के बावजूद गुप्त जी इस बात के लिए खेद प्रकट करते हैं कि उन्हें कुछ बातें लिखनी पडी है। 'अपनी सामाजिक दुरवस्था ने उन्हें वैसा लिखने के लिए विवश किया। गुप्त जी अपनी अतिशय विनम्रता के कारण यह भी लिखते हैं कि 'मैं इस काम के लिए सर्वथा अयोग्य था।" पर समय ने और इतिहास की धारा ने साबित किया कि 'भारत-भारती' लिखने के मैथिलीशरण जी सर्वथा योग्य थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'भारत-भारती' के प्रकाशनोपरान्त ठीक ही लिखा था— 'यह काव्य वर्तमान हिन्दी

साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करनेवाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम करेगा।... यह सोते हुओं को जगानेवाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनानेवाला है, आत्म-विस्मृतो को पूर्व स्मृति दिलानेवाला है, निरुत्साहियों को उत्साहित करनेवाला है, उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है, यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है... इसमें यह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती।" (महाराष्ट्र मानस, पृ.-16 प्रस्तुति : हेमन्त शर्मा)

द्विवेदी जी ने स्मरण कराया कि "जिन्होंने मुसलमानों को जगाने और उनका दिल बहलाने वाला हाली का लिखा हुआ 'मुसद्दस' नामक काव्य उर्दू में देखा है, उन्हें इसका स्मरण दिला देने से ही इस काव्य की महत्ता उनकी समझ में आ जाएगी, क्योंकि यह उसी के नमूने पर लिखा गया है।"

'मुसद्दस' और 'भारत-भारती' की सांस्कृतिक भूमिका शीर्षक अपने महत्त्वपूर्ण प्रवन्धात्मक आलेख में हिन्दी के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि शमशेर बहादुर सिंह ने दोनों काव्य-कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है और कई मिलते-जुलते सन्दर्भों का विवेचन भी किया है। वस्तुतः ये दोनों कृतियाँ क्रमशः मुसलमान और हिन्दू जातियों को आत्मनिर्भरता और स्वाधीनता के मार्ग पर निर्भय बढ़ने के लिए ललकारने वाली कृतियाँ हैं। शमशेर इसीलिए इनका तुलनात्मक अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि से अपरिहार्य मानते हैं। तत्कालीन भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को देखते हुए 'भारत-भारती' की सफलता स्वाभाविक थी।

'भारत-भारती' से गुप्त जी की पहचान राष्ट्रीय भावधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में निखर आयी। इसके बाद उनके अनेक छोटे-बड़े काव्य-ग्रन्थ प्रकाश में आये, परन्तु, उनके काव्य-विकास को ध्यान में रखें तो 'किसान' (1916), 'पंचवटी' (1925), 'हिन्दू' (1927), 'झंकार' (1929), 'साकेत '(1931), 'यशोधरा' (1932), 'जयभारत' (1952) और 'विष्णुप्रिया' (1957) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें 'साकेत' और 'जयभारत' गुप्त जी के क्रमशः महाकाव्य और महान काव्य हैं। इन दोनों काव्य-ग्रन्थों की चर्चा हम स्वतन्त्र अध्याय में करेंगे। 'किसान' की चर्चा भी विस्तार से 'किसानों की नियति से साक्षात्कार' वाले अध्याय में होगी।

जहाँ तक 'पंचवटी' की बात है, डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय इसे गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं। 'साकेत' की तुलना में 'पंचवटी' को प्रमुखता देना कुछ वैसा ही है, जैसा प्रसाद के नाटक 'स्कन्दगुप्त'— 'चन्द्रगुप्त' की तुलना में 'ध्रुवस्वामिनी' को प्रमुखता देना। यह अलग बात है कि डॉ. श्रोत्रिय के पास 'पंचवटी' को गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ कृति मानने के अपने तर्क हैं और वे प्रबल हैं। अवश्य ही इसके पीछे शिल्प-सघनता का आग्रह है। डॉ. श्रोत्रिय लिखते हैं- "पंचवटी जैसी कृति

स्वच्छन्द और महीन काव्य चेतना का सांकेतिक पदचिन्ह है। इसमें इतिवृत्तात्मकता, वर्णन बहुलता, स्थूल आदर्शवादिता, भाषा का क्लिष्ट या सपाट ताना-बाना, प्रत्यक्ष क्रिया-व्यापार बहुत कुछ अदृश्य या जरूरत भर को रह गया है। यहाँ उनका कवित्व जिस तरह प्रसन्न, चचल और संसिक्त है, उससे उनके मूल रुझानों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। "(अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.-86)

श्रोत्रिय जी का अनुमान है कि, "सहज-सरल-सी दिखनेवाली पंचवटी की रचना करते समय गुप्त जी को संभवतः अभ्यस्त स्वभाव से संघर्ष करना पडा होगा, जबकि इस संघर्ष के निशान रचना में मौजूद नहीं हैं। क्योंकि रचनात्मकता के अजस्र प्रवाह में समस्त प्रक्रियाएँ कृति का अन्तर्भाग हो जाती है। नतीजे में जहाँ-जहाँ इतिवृत्त में उतरने के क्षण आते हैं या शुष्क आदर्शवादिता हावी होती है, या प्रसंग के ठहर कर जम जाने के आसार होते हैं, कवित्व अपनी सहज चेतना से दृश्यान्तर या प्रसंगान्तर उपस्थित कर देता है।" (वही, पृ.-87)

'पंचवटी' पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। यह छायायुग की रचना है, भले इसके प्रणेता द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि हों। आरंभ में ही प्रकृति का सुन्दर दृश्य चित्रित है–

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में;
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानो झीम रहे हैं तरू भी मन्द पवन के झोंकों से।।
(पंचवटी, पृ.-5)

यहाँ 'झीमना' शब्द पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि भी पड़ी, उन्होंने हल्के परिहास के भाव से इसकी विशिष्टता उजागर की है 'गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करनेवाले अथवा मद में झूमने (या झीमने) वाले नहीं।' इस 'झीमना' शब्द का प्रयोग हिन्दी के उन अनेक कवियों ने किया है, जिनकी जड़ें बुन्देलखण्ड में हैं। (प्रो. कान्ति कुमार जैन)

'पंचवटी' पर छायावादी काव्य की छाया बिल्कुल स्पष्ट है। गुप्त जी इसमें प्रकृति का मानवीकरण करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि गुप्त जी अपनी स्वाभाविक रचना-प्रवृत्ति से पंचवटी में पूरी तरह मुक्त हो गये हैं। यहाँ भी कथा-धारा अविच्छिन्न है, पर मनोवैज्ञानिकता और शिल्प-सजगता बढ़ गई है। 'पंचवटी' में लक्ष्मण और शूर्पनखा का प्रसंग विशेष रूप से वर्णित है। लक्ष्मण द्वारा शूर्पनखा के नाक-कान काट लेने की घटना इसमें उत्कर्ष के रूप में वर्णित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी 'साकेत' की 'उर्मिला' के योग्य पति लक्ष्मण

को सब प्रकार से 'पंचवटी' में सक्रिय और व्यक्त होने का अवसर देते हैं। इस सन्दर्भ मे गुप्त जी की 'पंचवटी' से निराला की कविता 'पंचवटी-प्रसंग' की तुलना महत्त्वपूर्ण हो सकती है। गुप्त जी की रचना कथा काव्य है, जबकि निराला जी की काव्य नाटक। पर दोनों ही कृतियों में लक्ष्मण मौजूद है, 'पंचवटी' में अधिक प्रभावशाली ढंग से जबकि 'पंचवटी-प्रसंग' मे कुछ कम। गुप्त जी लक्ष्मण को 'पंचवटी' में धीर, वीर, निर्भीक और भोगी कुसुमायुध योगी-सा चित्रित करते हैं। लक्ष्मण निद्रा त्यागकर पर्ण कुटीर के प्रहरी बने हुए हैं। कवि पूछता है उस पर्णकुटीर में कौन-सा धन है जिसकी रक्षा में लक्ष्मण जैसा व्रती तन-मन-जीवन से रत है ? पुनः स्वयं ही उत्तर देता है–

मर्त्यलोक मालिन्य मेटने स्वामी-संग जो आई है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह कुटी आज अपनाई है।
वीर वंश की लाज यही हैं फिर क्यों वीर न हो प्रहरी ;
विजन देश है, निशा शेष है, निशाचरी माया ठहरी।।
(पंचवटी, पृ.-7)

'पंचवटी' में गुप्त जी के लक्ष्मण कहने को तो मौन हैं, पर यथार्थ में उनके भीतर विचारों और भावनाओं का द्वन्द्व चल रहा है। उनके भीतर जो एकालाप संलाप चल रहा है, उससे उनका चरित्र उदात्त की तुलना में मानवीय धरातल का स्पर्श अधिक करने लगा है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी लिखते है–

"तुलसीदास के राम और सीता कभी भी लक्ष्मण से विनोद नही करते, पर मैथिलीशरण जी की 'पंचवटी' में बराबर मनोविनोद और हास्य आदि के स्थल आये हैं। इसमें और कुछ नहीं सिद्ध होता, केवल इतना ही सिद्ध होता हैं कि गुप्त जी की काव्यधारा मानवीय उपकूलों के अधिक पास से बह रही है।"

(हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी, पृ.-74)

'पंचवटी' का महत्त्व इसी बात में है। इसमें परम्परा से अधिकाधिक छूटकर गुप्त जी आधुनिकता के अपने और आत्मीय बन सके हैं। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय सही लिखते है–

'पंचवटी' में सांस्कृतिक मूल्य सूक्तिमत्ता, आदर्शवादिता वगैरह तरल स्निग्धता के कारण न तो रचना से अलग-थलग पड़े हैं और न रचना को शुष्क बनने देते हैं। यह मनोवैज्ञानिक, प्रासंगिक और काव्यात्मक उपादानों से संश्लिष्ट है–क्योंकि वस्तुपरक न रहकर अनुभूतिपरक हो गयी है। 'पंचवटी' जैसी प्रबल प्रश्नात्मकता गुप्त जी की शायद ही किसी अन्य रचना में हो। प्रश्नों से अभिव्यक्ति में एक तराश पैदा हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं। पात्रों की अन्तर्द्वन्द्व-चेतना,

विस्मय, क्षोभ, विद्रोह में ढली सूक्तियाँ और मूल्यपरकता केवल वक्तव्य न रहकर, जीवन्त अनुभवों से सिक्त हो गई हैं। (अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.-88)

'पंचवटी' से सर्वथा भिन्न श्रेणी की रचना है 'हिन्दू'। यह एक तरह से 'भारत-भारती' का ही प्रसार है। इसमें राष्ट्रकवि हिन्दूवादी-विचारधारा से परिचालित हैं, जातीयता का अर्थ 'हिन्दूपन' की टेक मानते है–

करो बन्धुगण, करो विचार,
किस प्रकार हो अब उद्धार ?
सब कुछ गया, जाय, बस एक-
रक्खो हिन्दूपन की टेक।
ऐसा है वह कौन विवेक
करता हो जो हमको एक ?
और बढ़ा सकता हो मान ?
केवल हिन्दू-हिन्दुस्तान
(हिन्दू, पृ.-63)

गुप्त जी हिन्दुओं के अतीत ऐश्वर्य का चित्रण कर वर्तमान में हिन्दू जाति को फूट, दुर्बलता, कुरीतियों से ग्रस्त और स्त्रियों के प्रति विशेष रूप से क्रूर पाते हैं और उन्हें अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होने की सलाह देते हैं। अनमेल-विवाह, सती-प्रथा आदि के गुप्त जी विरोधी हैं। हिन्दू रीति-नीति, विभिन्न पर्वों, उत्सवों का स्मरण करते हुए 'हिन्दू' में गाँवों के सुधार पर बल देते हैं। गुप्त जी मनुस्मृति की व्यवस्था को पुनः स्थिर करना चाहते हैं, अपनों का आदर, विधर्मियों का प्रतिकार, अछूतों का उद्धार जैसे कई महत्त्वपूर्ण प्रकरणों के बाद गुप्त जी इसाई और इस्लाम मत के अनुयायियों को भारत का होने और भारत का ही विश्वास करने की सलाह देते हैं। पर कुल मिलाकर कवित्व का पक्ष इसमें दुर्बल है। 'हिन्दू' की भूमिका में गुप्त जी लिखते हैं–

केवल भावमयी कला, ध्वनिमय है संगीत;
भाव और ध्वनिमय उभय, जय कवित्व नय-नीति।

गुप्त जी इस आदर्श की रक्षा 'हिन्दू' में नहीं कर पाये हैं। इसमें विषयोत्कृष्टता है, विचारोत्कृष्टता भी, पर कविता धार्मिकता या दार्शनिकता के समर्थन में खड़ी होने से सदा से अस्वीकार करती आयी है।

गुप्त जी की कविता-यात्रा में 'झंकार' की कविताएँ विशिष्ट महत्त्व की सूचना देती है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचार हैं —— "यद्यपि गुप्त जी जगत और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्त्व और सौन्दर्य का दर्शन करने वाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित करने वाले कवि हैं, पर तृतीय उत्थान में

'छायावाद' नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाये जो 'झंकार' (1929) में संगृहीत हैं। पर असीम के प्रति उत्कण्ठा और लम्बी चौडी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्त जी की अन्तःप्रेरित प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पडे।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-417)

शुक्ल जी ने 'झंकार' की सटीक आलोचना अत्यन्त संक्षेप में ही कर दी है। इसमें संगृहीत रचनाएँ गुप्त जी की गीति-प्रतिभा से हमारा परिचय कराती हैं। गुप्त जी में कालानुसरण की अप्रतिम क्षमता थी, इस तथ्य के उदाहरण भी ये गीत हैं। उनकी विशेष ख्याति प्रबन्ध-रचना के कारण हैं, पर 'झंकार' में उन्होंने प्रगीत के क्षेत्र में भी कुछ सफलता पायी है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा–

यही होता है जगदाधार।
छोटा-सा घर आँगन होता इतना ही परिवार।
छोटा खेत द्वार पर होता स्वजनों का समवाय,
थोड़ा-सा व्यय होता मेरा थोड़ी-सी ही आय
घर हो गाँव, गाँव ही मेरा होता सब संसार,
* * *
कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम
* * *
गाता हुआ गीत ऐसा ही रहता मैं स्वच्छन्द
* * *

(झंकार, पृ.-108-09)

'झंकार' के गीत आत्मा-परमात्मा के रागात्मक सम्बन्धों को बड़े लुभावने ढंग से प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि गुप्त जी की काव्य-भाषा इस प्रवृत्ति के प्रसार में बाधा खड़ी करती है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि गुप्त जी छायावादी रहस्यवाद के प्रभाव से बच नहीं सके थे। समय के साथ वे चल रहे थे और समय से बहुत कुछ ग्रहण करते हुए आगे बढ रहे थे।

'यशोधरा' (1932) और 'विष्णुप्रिया' (1957) गुप्त जी की स्त्री-संवेदना की दृष्टि से कभी भुलायी न जा सकनेवाली काव्य-कृतियाँ हैं। 'यशोधरा' में भारतीय नारी का स्वाभिमान पूरे तेज के साथ व्यक्त हुआ है। इसे चम्पू काव्य की श्रेणी में रखा गया है। इसकी भूमिका (शुल्क) में अनुज सियारामशरण गुप्त को संबोधित करते हुए गुप्त जी लिखते हैं–"मेरी शक्ति का उपचार किये बिना मुझसे ऐसे ही अनुरोध किया करते हो ! कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी

बात है। लो कविता, लो गीत, लो नाटक और गद्य-पद्य, तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।"

"भगवान बुद्ध और उनके अमृत तत्त्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल जननी के दो चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायें तो बहुत समझनां।" (यशोधरा, पृ.-4-5)

गुप्त जी की यह कृति विचार और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण साबित हुई है। राष्ट्रकवि की स्त्री-संवेदना की जैसी शक्तिशाली अभिव्यक्ति इस कृति में मिली, वैसी शायद अन्यत्र नहीं। यह काव्य-वस्तु की संश्लिष्टता ही है जो किसी भी पारम्परिक शिल्प में अँट नहीं पायी और गुप्त जी को एक नये काव्य-रूप का अन्वेषण करना पड़ा। 'यशोधरा' निश्चित रूप से एक प्रयोगवादी स्थापत्य है, हिन्दी में प्रयोगवाद के आने से बहुत पहले यह संभव हुआ। यह गुप्त जी की काव्यानुभूति की बनावट को भी इकहरा और अर्थवादी होने से बचा लेनेवाली एक असाधारण कृति है। यद्यपि 'यशोधरा' में राष्ट्रकवि की ये दो पंक्तियाँ अत्यधिक लोकप्रिय हुई–

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी
ऑचल में है दूध और आँखों में पानी।

तथापि गुप्त जी का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण यही नहीं है। 'यशोधरा' में ही बुद्धदेव के मुख से गुप्त जी ने जो यह कहलाया है–

"दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी—" के साथ पूरे परिदृश्य को रखकर ही गुप्त जी की स्त्री-संवेदना को वास्तविक रूप में समझा जा सकता है। गुप्त जी के मन में स्त्री के प्रति अपार करुणा और संवेदना थी। उनके लिए यह आधुनिकता की फैशन-परेड में शामिल होना भर नहीं था।... (इसीलिए) गुप्त जी नारी का व्यक्तित्व जिस रूप में रचना चाहते थे, वह वास्तव में वहाँ उतना नहीं है जहाँ आमतौर पर खोजा या देखा जाता है, बल्कि वहाँ है जहाँ प्रायः लोगों की निगाह नहीं जाती।" (अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त पृ.-1)

'यशोधरा' में गुप्त जी निस्सन्देह उपेक्षिताओं के उद्धार की प्रकृत भावना से बँधे हैं, पर वे आद्यन्त इस कृति में इतना ही नहीं करते। उनकी काव्य प्रतिभा पूरे यौवन पर है और द्विवेदी-युगीन रचना-रूढ़ि से मुक्ति चाहती है। 'यशोधरा' में कुछ ऐसे गीत आये हैं जो पहली बार गुप्त जी की काव्य-क्षमता के बारे में पुनर्मूल्याकन के लिए विवश कर देते हैं–

निशि की अँधेरी यवनिके, चुप चेतना जब सो रही ; "
नेपथ्य में तेरे न जाने, कौन सज्जा हो रही।"

(यशोधरा, पृ.-68)

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गीत है जिसमें गुप्त जी प्रसाद जी की प्रतिभा के गांभीर्य का आभास देते है। 'सखि, वे मुझसे कहकर जाते' और 'प्रियतम तुम श्रुति-पथ से आये' जैसे गीत गुप्त जी की छायावाद-युग में ही रेखांकित करने योग्य उपस्थिति की सूचना देते हैं।

'यशोधरा' के संश्लिष्ट कथ्य की ही यह माँग है कि गुप्त जी इसकी विधागत शुद्धता का ध्यान नहीं रख पाये। इसमें नाट्य संभावना और कथात्मकता भी प्रबल है। एक ओर यदि भावना की तीव्रता और आवेग है तो दूसरी ओर बौद्धिक प्रखरता भी लक्षित होती है। 'राहुल-जननी' के अन्तर्गत राहुल और यशोधरा के संवाद गुप्त जी की संवाद-कुशलता के साथ-साथ पात्रों के अन्तर्मन में प्रवेश करने की क्षमता का भी पता देते हैं।

'यशोधरा' के साथ गुप्त जी की 'विष्णुप्रिया' की चर्चा भी स्वाभाविक लगती है, यद्यपि यह उनकी काव्य-प्रतिभा की वृद्धावस्था की रचना है। 'विष्णुप्रिया' में इसीलिए अभ्यासजन्य काव्यत्व की प्रबलता है। इस कृति की रचना के समय गुप्त जी 'यशोधरा' वाली तन्मयता से उबर चुके हैं, शायद उनकी स्त्री-संवेदना भी थोड़ी प्रौढ़ा हो चली है। वह दार्शनिकता के धरातल का स्पर्श करने लगी है।

'विष्णुप्रिया' के मुख पृष्ठ पर ये पंक्तियाँ अंकित हैं—

मेरे भगवान सबके हों मैं उन्हीं की हूँ
मेरे भाग्य मुझमें मुंदें तो खुलें सबमें

यह द्विवेदी-युग के कवि का आधुनिकता-बोध है। "प्यारे जीवें जनहित करें, गेह चाहे न आवें" का ही परिमार्जित रूप। 'विष्णुप्रिया' उसी तरह चैतन्य के व्यक्तित्त्व की परिपूरक है जिस तरह यशोधरा सिद्धार्थ की। दोनों कृतियों में पृष्ठभूमि को प्रकाशित करने का सार्थक प्रयास हुआ है, पर 'विष्णुप्रिया' परवर्ती रचना है। गुप्त जी की परवर्ती काव्य-कृतियों में कदाचित सर्वाधिक मूल्यवान और काव्यात्मक रचना। काव्य-भाषा की दृष्टि से भी इसका महत्त्व स्पष्ट है। यहाँ तक आकर गुप्त जी काव्यभाषा के स्तर पर सहज की साधना पूरी कर चुके प्रतीत होते हैं।

संक्षेप में, 'रंग में भंग' (1909) से लेकर 'विष्णुप्रिया' (1957) तक लगभग पाँच दशकों की काव्य-यात्रा में गुप्त जी कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर उपलब्धियों के सर्वाधिक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस बीच उनकी जो अन्य काव्य कृतियाँ ('तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास', 'वैतालिक', 'पत्रावली', 'शकुन्तला', 'लीला', 'आर्य', 'स्वदेश-संगीत', 'त्रिपथगा', 'शक्ति', 'विकट भट', 'गुरुकुल', 'उच्छ्वास', 'सिद्धराज', 'द्वापर', 'नहुष', 'मंगलघट', 'कुणालगीत', 'अर्जन और विसर्जन', 'विश्ववेदना', 'काबा और कर्बला', 'अजित', 'प्रदक्षिणा', 'पृथ्वी-पुत्र', 'हिडिम्बा', 'अंजलि और अर्घ्य', 'भूमि-भाग', 'राजा-प्रजा') प्रकाशित हुई हैं, उनमें गुप्त जी अपनी

सांस्कृतिक एवं जातीय चिन्ताधारा को, और अधिक शक्तिशाली और रचनात्मक ढंग से व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने अपने अनुवादों से भी निरन्तर इस बात का अहसास कराया है कि वे रचना-कर्म में पूरी तरह निजबद्ध नहीं है।

गुप्त जी के अनुवादों में मुख्य रूप से बंगला भाषा की कृतियाँ स्थान पा सकी हैं। माइकेल मधुसूदन दत्त की 'विरहिणी व्रजांगना', 'वीरांगना' और 'मेघनाथ-वध' जैसी उत्कृष्ट काव्य-कृतियों का गुप्त जी ने पूरी क्षमता से अनुवाद किया है। नवीनचन्द्र सेन की कृति 'पलासी का युद्ध' गुप्त जी के अनुवाद-कर्म का उज्जवल उदाहरण है। इसी तरह हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय के 'वृत्र-सहार' का अनुवाद भी उन्होंने पूरे मनोयोग से किया है। काव्य-कृतियों के अतिरिक्त कुछ नाट्य रचनाओं का अनुवाद भी गुप्त जी ने किया है, विशेषतः भास के नाटकों का । 'प्रतिभा', 'अविमारक', 'अभिषेक', 'दूतघटोत्कच' और 'स्वप्नवासवदत्ता' के अनुवाद गुप्त जी की अनुवाद करने की क्षमता के उदाहरण हैं। और तो और, गुप्त जी ने अपनी प्रकृति के विरुद्ध उमर खय्याम की रचनाओं का भी 'रूबाइयत उमरखय्याम' के नाम से श्रेष्ठ अनुवाद किया है। गुप्त जी के अनुवादों को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि वे दायित्व-निर्वाह-मात्र हैं। वस्तुतः, उनके द्वारा किये गये अनुवाद उनके व्यक्तित्व-प्रसार के ही सार्थक उपक्रम हैं। डॉ. कमलाकान्त पाठक ने ठीक ही लिखा है कि "गुप्त जी ने उन्हीं रचनाओं का अनुवाद किया है जिनका वे रसास्वादन कर सके हैं और आचार्य द्विवेदी ने जिनकी स्वीकृति दी।"

मौलिक तथा अनूदित काव्य-कृतियों के साथ-साथ गुप्त जी ने थोड़ा ही सही पर गद्य भी लिखा है। गुप्त जी का गद्य एक कवि का गद्य है जिसकी चर्चा हम स्वतंत्र अध्याय में करेंगे।

4

साकेत और जयभारत

'साकेत' रामकाव्य-परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' के बाद, हिन्दी में दूसरा महाकाव्यात्मक आयोजन है। यह मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-साधना की सबसे बड़ी उपलब्धि है। डॉ. बच्चन सिंह के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि 'साकेत' की रचना का आरंभ सन् 1914 ई. में हुआ और सन् 1918 तक उसके पाँच सर्ग 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके थे। सन् 1914 से लेकर साकेत के प्रकाशन वर्ष, 1931 तक--लगभग सत्रह-अठारह वर्षों में इसकी रचना पूरी हुई। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त जी ने अपनी इस कृति के लिए कितना परिश्रम एवं अध्ययन किया। 'साकेत' के प्रकाशनोपरान्त गुप्त जी ने इसकी एक प्रति अन्य कृतियों की भाँति सबसे पहले महात्मा गाँधी को भेजी। गाँधी जी उस समय यरवदा जेल मे बन्दी थे। यहीं से उन्होंने 5 अप्रल सन् 1832 ई. को गुप्त जी को पत्र लिखा, जिसमें 'साकेत' के बारे में कुछ बातें कही गई थी, गाँधी जी ने लिखा था—

"उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता है। तुलसीदास जी ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नही कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष-दृष्टि से नहीं देखा। मुझको उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि उर्मिला जैसे पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है और उसमें काव्य का और उन पात्रों का महत्त्व है। उर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन सीता के गुण विशेष बताने के लिए ही आ सकता था। परन्तु उर्मिला के गुण सीता से कम थे। जैसी सीता वैसी ही उनकी भगिनियाँ। 'मानस' एक धर्मग्रन्थ है, साकेत में भी मैं वही चीज देखना चाहता था।" (महाराष्ट्र मानस : मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक, पृ.-67) प्रस्तुति : कल्याण चन्द्र जायसवाल)

गाँधी जी के पत्रोत्तर में गुप्त जी ने स्वीकार किया कि "तुलसी का दोष मानकर अथवा उनसे स्पर्धा करने के लिए मैंने उर्मिला का वर्णन नहीं किया है।"

गुप्त जी 'रामचरित मानस' और 'साकेत' में तत्त्वतः अन्तर पर जोर देते हैं।

'साकेत' न 'रामचरित मानस' है, न 'रामायण'। 'साकेत' का अभिप्राय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट किया है। काव्य का नाम 'साकेत' रखा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें अयोध्या में होनेवाली घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन ही प्रधान है। राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम-भरत-मिलन तक की कथा आठ सर्गों तक चलती है। उसके उपरान्त दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अन्तर्वृत्तियों का प्रसार है, जिसके बीच-बीच में अत्यन्त उच्च भावों की व्यंजना है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-417)

गुप्त जी "मुख्यतः उर्मिला की अनुभूति और रचना में कुछ नवीनता" की अपनी इच्छा पर ही 'साकेत' का अस्तित्व मानते हैं। इसमें तुलसीदास के उद्देश्य से उनका उद्देश्य कुछ अलग है। गुप्त जी की मान्यता है कि 'साकेत' में "प्रधान पात्रों ने मानो अपनी अलौकिकता छोडकर अधिकतर लौकिकता ही धारण कर ली है।" यह सच है कि तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त दोनों रामभक्त हैं, फिर भी सख्यभाव की उपासना में दीक्षित होने से मानस के राम के प्रति गुप्त जी सतर्क रहते हैं। वे राम की मैत्री को राज्य की मैत्री मानते हैं जो हाथी पर चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है।" गुप्त जी अपने इसी पत्रोत्तर में स्पष्ट लिखते हैं कि "सीता राम के समीप मुझे जो भय लगता है, वह उर्मिला और लक्ष्मण के समीप नहीं।" वस्तुत : यही वह मूल कारण है कि गुप्त जी की असन्दिग्ध वैष्णवता के बावजूद 'साकेत' एक काव्य ग्रन्थ ही है, 'रामचरित मानस' की भाँति धर्मग्रन्थ या भक्ति-काव्य नहीं। 'साकेत' के रचनाकार की यह मूल प्रतिज्ञा है कि उर्मिला को विशेष स्थान मिलना चाहिए। पहले के कवियों ने अन्याय किया या न्याय, गुप्त जी इस विवाद में नहीं पडना चाहते। तथापि राम के प्रति उनकी आस्था और भक्ति को साकेत के सन्दर्भ में रेखांकित किया गया है। गुप्त जी लिखते हैं–

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

* * *

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ;
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।

राम काव्य-परम्परा से कथानक लेकर भक्ति-भावना के साथ राम और सीता को छोड़कर, लक्ष्मण और उर्मिला को महाकाव्य में नायक-नायिका की तरह

प्रतिष्ठित कर देना सच में एक मुश्किल कार्य था। पर गुप्त जी ने यह कर दिखाया है। अवश्य, इसके पीछे जो प्रेरणा-शक्ति काम कर रही थी, वह केवल द्विवेदी जी के निर्देशों तक ही सीमित नहीं हो सकती। नवीन सर्जना की स्वच्छन्द चेतना मर्यादावाद के भीतर अन्तः सलिला की भाँति गुप्त जी में शुरू-शुरू में भी परिलक्षित होती है। यदि ऐसा नहीं होता तो गुप्त जी माइकेल मधुसूदन दत्त के महाकाव्य 'मेघनाद वध' का अनुवाद क्यों करने जाते ? इस स्वच्छन्दता का हल्का-सा, झीना-सा आभास 'साकेत' के विभिन्न सर्गों में तो मिलता ही है–इस महाकाव्य का 'मंगलाचरण' भी इस आभास से नहीं बच सका-

जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति,
स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं
"देखो अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें
सूड़ से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं,
देते नहीं, कन्दुक-सा ऊपर उछालते हैं,
ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं !"

इसमें भक्ति-भाव अपने निश्छल आवेग में गुप्त जी की विनोदी प्रकृति को बड़े संयमित और शालीन रूप में व्यक्त करता है। जितना ही वह व्यक्त है, उतना ही अव्यक्त भी। इसमें गुप्त जी की निखरी हुई कला के दर्शन होते हैं। 'साकेत' के आरंभिक सर्गों में कवि का लक्ष्मण-उर्मिला के प्रति आत्मीय भाव अप्रकट नहीं है। गुप्त जी 'साकेत' में अपेक्षाकृत खुले कवित्त्व का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी स्वीकार करते हैं कि 'साकेत' एक महाकाव्य है और उसका मूल्यांकन भी 'महाकाव्य' की दृष्टि से ही होना चाहिए।

महाकाव्य के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। संक्षेप में, भारतीय और पाश्चात्त्य मतों के प्रासंगिक और उपयोगी अंश निकालकर कोई सुचिन्तित और सुसंगत परिभाषा देना चाहे तो डॉ. शम्भूनाथ सिंह के शब्दों में वह इस प्रकार होगी—

"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्य रूप है, जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण-संयुक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है, जो रसात्मकता या प्रभावन्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ कल्पना या संभावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्त्वपूर्ण जीवन-वृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है, जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में

प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर क़िसी महुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्त्वपूर्ण गंभीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना अथवा घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप में जाति विशेष और युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं तथा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।" कहना न होगा कि गुप्त जी का 'साकेत' इस निकष पर अधिकांश में खरा उतरता है।

गुप्त जी ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो का दूर तक निर्वाह 'साकेत' में किया है। आरंभ में मंगलाचरण और सरस्वती-वन्दना है, जो संस्कृत के महाकाव्यों 'कुमार संभवम' और 'रधुवंशम्' के मेल में है। 'साकेत' में सर्ग भी सात से अधिक (बारह) रखे गये हैं। इसके प्रत्येक सर्ग में (केवल नवम को छोड़कर) नये छन्द आये है। नगर, सरिता, गिरि-वर्णनों के अतिरिक्त मृगया, प्रातःकाल, सांयकाल एवं रात्रि का वर्णन हुआ है। षड्ऋतु वर्णन एवं पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का वर्णन भी महाकाव्य-रूढ़ि के अन्तर्गत है। इसमें समष्टि के लिए व्यष्टि के उत्सर्ग को भी महिमामण्डित किया गया है। इसके साथ ही, वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, भाव-वर्णन, युग-धर्म-वर्णन तथा रस परिपाक पर भी इसके प्रणयन में पूरा ध्यान रखा गया है।

'साकेत' का कथानक पौराणिक है, प्रख्यात है। परन्तु गुप्त जी ने अपनी कल्पना-शक्ति का भी पर्याप्त उपयोग किया है। उर्मिला देवी को नायिका बनाने के कारण गुप्त जी को कुछ असुविधा भी हुई है। महाकाव्य की नायिका के अनुरूप उर्मिला का व्यक्तित्व ख्यात नहीं होने से गुप्त जी ने अपनी ओर से उसमे बहुत कुछ जोड दिया है। तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'साकेत' ही रखा है, 'उर्मिला' नहीं, यह विचारणीय है।

'साकेत' की कथा शुरू होती है अयोध्या के राजभवन में होनेवाले लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद से। तत्पश्चात कैकेयी-मन्थरा-संवाद, राम-वन-गमन और चित्रकूट-सभा की घटनाएँ आठ सर्गों तक चलती हैं। नवम सर्ग साकेत का पाण सर्ग है, यह प्रगीतों का संग्रह है और पूरी तरह उर्मिला की विरह-वेदना को ही समर्पित है। दशम सर्ग में सरयू नदी को सम्बोधित कर उर्मिला अपने जन्म से लेकर स्वयंवर तक की कथा स्मृति-संचारी के रूप में, पूर्वदीप्ति की शैली में कह जाती है। एकादश सर्ग में शत्रुघ्न और हनुमान के माध्यम से दण्डकारण्य से लेकर लक्ष्मण को शक्ति लगने तक की घटनाएँ वर्णित हैं। द्वादश सर्ग में साकेतवासियों के द्वारा युद्ध की

तैयारी, लंका युद्ध, राम का अयोध्या-आगमन और उर्मिला-लक्ष्मण का शाश्वत मिलन वर्णित है।

'साकेत' की कथा को समग्रता में उर्मिला और साकेत से संबद्ध करने में गुप्त जी को विशेष कौशल का सहारा लेना पड़ा है। प्राय : घटनाएँ मुख्य रूप से साकेत के ही मंच पर घटित होती हैं, कुछ प्रत्यक्ष रूप में तो कुछ सूच्य रूप में। रामायण के अयोध्याकाण्ड को छोडकर शेष कथा कहने के लिए गुप्त जी को सूच्य का सहारा लेना पड़ा है। गुप्त जी की कला इस बात में भी निहित है कि वे साकेत के मंच को सूना नहीं होने देते, कभी उर्मिला की विरह-वेदना के वर्णन से तो कभी अयोध्यावासियों की प्रतिक्रियाओं से मंच का सूनापन भरते रहते हैं। आचार्य शुक्ल एक प्रबन्धकार कवि की भावुकता के दर्शन इस बात में करते हैं कि "वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।" (त्रिवेणी, पृ.-114) मैथिलीशरण जी इस निष्कर्ष पर भी खरे उतरते हैं। एक-दो मार्मिक प्रसंगों को छोडकर 'साकेत' के अधिकांश मार्मिक प्रसंग रामचरित मानस से भिन्न हैं। निषाद से राम का मिलन, दशरथ-मरण और चित्रकूट-प्रसंग निस्सन्देह, रामचरित मानस में अधिक समर्थ और मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त हुए हैं, पर ये 'साकेत' में भी विशेष महत्त्व रखते हैं।

जहाँ तक उदात्त चरित्रों की बात है तो रामचरित मानस के बाद 'साकेत' का ही स्मरण उचित प्रतीत होता है। राम, लक्ष्मण, भरत और सीता के चरित्र अपनी उदात्तता में 'साकेत' को अविस्मरणीय प्रबन्ध साबित करते हैं। 'साकेत' में अध्येता राम को एक महापुरुष और सीता को एक आदर्श गृहिणी के रूप में देखते हैं। सीता राम के ईश्वरत्व की यथास्थिति को स्पर्श किये बिना उन्हें मानवीय धरातल पर ले आना गुप्त जी के लिए संभव हुआ, इस बात के लिए उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

पौराणिक कथानक होने पर भी 'साकेत' में युग-धर्म की अभिव्यक्ति पूरी क्षमता से हुई है। विशेषतः सीता की दिनचर्या में गृहिणी भारतीय नारी का आदर्श गतिमान रहा है। गुप्त जी पारिवारिकता को बनाये रखते हैं। संयुक्त परिवार भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसके अतिरिक्त स्वाधीनता की चेतना भी साकेत में अरूप नहीं है। श्रम की महत्ता, आत्म-निर्भरता आदि के बारे में साकेत के अष्टम सर्ग में गुप्त जी के विचार मिलते हैं। द्वादश सर्ग में भरत की वाणी में स्वातन्त्र्य चेतना आकार लेती है—

> भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
> सिन्धु-पार वह बिलख रही व्याकुल मन से

बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके—
अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धरके।
(साकेत, पृ.-297)

उर्मिला के आदर्शवाद में प्राणि-मात्र की करुणा और विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। सीता को भी गुप्त जी ने चित्रकूट में एक श्रमरत युवती के रूप में दिखाया है–

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
* * *
औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारि-बिन्दुफल स्वास्थ्य शुक्ति पलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।
(साकेत, पृ. 158)

'साकेत' के प्रबन्ध-स्थापत्य में शृंगार और करुण रस की प्रचुरता है। संयोग शृंगार का कम, विप्रलंभ का अधिक प्रभावशाली वर्णन हुआ है। परन्तु जैसा कि डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं "गुप्त जी की रस व्यंजना उनके प्रिय कवि कालिदास की अपेक्षा भवभूति के अधिक निकट पड़ती है।" (आस्था के चरण, पृ. 427) विप्रलंभ की सभी दशाओं का समावेश करते हुए गुप्त जी 'साकेत' की उर्मिला को उस स्थिति में पहुँचा देते है, जहाँ उसके रोदन की अनुगूँजें भवभूति का स्मरण कराने लगती हैं—

करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई-
"मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?"

यहाँ 'उत्तर' में 'उत्तर रामचरित' का संकेत है और 'भवभूति' में भावमूर्त्ति भवभूति का। करुण को विप्रलंभ की व्याप्ति में अन्तर्भुक्त करें तो कहा जा सकता है कि 'साकेत' का अंगीरस शृंगार है।

इस महाकाव्य में गुप्त जी का उद्देश्य उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र की उदात्तता और महत्ता का निरूपण करना रहा है, अत : उर्मिला ही इसकी नायिका है। उसी पर राष्ट्रकवि ने अपने हृदय की सारी करुणा उड़ेल दी है, इसीलिए करुण को भी महत्त्व मिल गया है । वैसे 'साकेत' के प्रबन्ध-स्थापत्य में वीर, रौद्र और भयानक रसों का भी समावेश हुआ है, पर ये गौण रूप से आये हैं।

'साकेत' में राष्ट्रकवि का उद्देश्य महान है। उर्मिला को आधार बनाकर उन्होंने अपनी विचारधारा के अनुरूप नारी की प्रतिमा गढी है। उर्मिला जितनी

वास्तविकता है, उतनी ही कल्पना भी। गुप्त जी वैष्णव भावनाओं के एक आदर्शवादी कवि है। उनपर गाँधी जी के विचारों और जीवन-शैली का गहरा असर है। 'साकेत' इस असर के भीतर लिखा गया है, बाहर नहीं। यह 'प्रियप्रवास' और 'कामायनी' के बीच का प्रयत्न है और इस प्रयत्न में गुप्त जी का 'मज्झिम निकाय' ही कारगर हुआ है। यह एक तथ्य है कि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने महाकाव्य की दृष्टि से 'साकेत' के स्थापत्य मे कई त्रुटियों का अनुसन्धान किया था। समय-समय पर अन्य आलोचकों ने भी इस दिशा में अपने ढंग से दोष-दर्शन किये हैं, परन्तु जैसा कि डॉ. निर्मला जैन ने लिखा है–

"साकेत में प्रबन्ध-गुण की दृष्टि से जो आंशिक शिथिलता उत्पन्न हुई है वह उर्मिला के ही प्रसंग को लेकर है, और कवि, काव्य को महाकाव्य बनाने में सफल हो सका है—उसका कारण राम-कथा को अपनाने का आग्रह ही है। महाकाव्य का उपयुक्त विषय केवल कोमल और मधुर, करुण और मसृण नहीं हो सकते, उसमें जीवन के विराट् और भव्य पक्ष का होना अनिवार्य है। कवि के मन में ग्रहण और त्याग की इसी द्विधा ने प्रबन्ध-निर्वाह को किंचित बाधित किया है। उसका हृदय उर्मिला और राम के बीच निश्चय नहीं कर पाता, किन्तु इन नगण्य-सी त्रुटियों को लक्ष्य करके 'साकेत' के प्रबन्धत्व पर कोई महत्त्वपूर्ण दोषारोपण नहीं किया जा सकता, और न ही उसे महाकाव्य के गौरव से वंचित किया जा सकता है।" (आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना, पृ.-111)

* * *

* * *

रामकाव्य-परम्परा में 'साकेत' का जो स्थान है, वही स्थान कृष्णाख्यान परम्परा में 'जयभारत' का–कहना कठिन है। 'साकेत' की भॉति कुछ लोगों ने इसे भी महाकाव्य समझ लिया है। गुप्त जी ने इस कृति को भी लम्बे समय में लिखा है। 'निवेदन' में गुप्त जी लिखते हैं–"अर्द्ध शताब्दी होने आई, जब मैंने 'जयद्रथ वध' का लिखना प्रारंभ किया था। उसके पश्चात भी बहुत दिनों तक महाभारत के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने अनेक रचनाएँ की। उन्हें लेकर कौरव-पाण्डवों की मूल कथा लिखने की बात भी मन में आती रही, परन्तु उस प्रयास के पूरे होने में सन्देह रहने से वैसा उत्साह न होता था। अब से ग्यारह-बारह वर्ष पहले पर-शासन के विद्वेष्टा के रूप में जब मुझे राजबन्दी बनना पड़ा, तब कारागार में ही यह साहस कर बैठा।"

"एक अतर्कित बाधा और आ गई। अपनी जिन पूर्व-कृतियो के सहारे यह काम सुविधापूर्वक कर लेने की मुझे आशा थी, वह भी पूरी न हुई।

'जयद्रथ-वध' से तो मैं कुछ भी न ले सका। युद्ध का प्रकरण मैंने और ही प्रकार से लिखा। अन्य रचनाओं में भी मुझे बहुत हेर-फेर करने पड़े। कुछ तो नये सिरे से पूरी की पूरी फिर लिखनी पड़ीं।"

गुप्त जी के उपर्युक्त 'निवेदन' से एक बात स्पष्ट होती है कि जिस प्रकार उन्होने 'साकेत' की रचना लम्बे समय तक की थी, उसी प्रकार 'जयभारत' की भी। उन्होने इसके अनेक प्रसंगों में पुनः संशोधन और परिष्कार भी किये हैं। इस प्रबन्ध काव्य में सैतालिस प्रकरण हैं जिनमें महाभारत की मुख्य कथाएँ पुनर्रचना का विषय बनी हैं। पद्य में कथा लिखने की गुप्त जी की क्षमता असन्दिग्ध है। 'जयभारत' में यह कथात्मकता आवेगपूर्ण भाषा की सहायता से प्रभावशाली बन गई है। चरित्रों की अभिव्यंजना में तो गुप्त जी कुशल हैं ही। आरंभ में युधिष्ठिर का कथन कृति के संदेश की तरह आया है—

जीवन-यशस्-सम्मान-धन-सन्तान सुख सब मर्म के;
मुझको परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज कर्म के।

'जयभारत' के प्रणेता का भी यही मन्तव्य है। उसके इस मन्तव्य को युधिष्ठिर के मन-वचन-कर्म में व्यक्त होने का अवसर मिला है। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं "जयभारत राष्ट्र-कवि के संपूर्ण रचना-काल का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जा सकता है, और उसमें कवि के अपने शब्दों में उनकी लेखनी के क्रम-विकास की रूप-रेखा स्पष्ट रूप से मिल जाती है। इस ग्रन्थ में स्वभावतः कथा-प्रवाह आद्योपान्त एक-सा नहीं है। कहीं तो वह पहाडी नदी के समान तीर की तरह आगे बढ़ती है-और कही जैसे चौरस भूमि पाकर विरम जाती है। शैली-भेद के कारण यह वैषम्य और भी उभर आता है, क्योंकि आरंभिक शैली मे जहाँ फैलाव है, वहाँ उत्तरकाल की शैली समास गुण प्रधान है। इस प्रकार कथा-वर्णन में वह वेगवान धारा-प्रवाह नहीं है, जो महाकाव्य में होना चाहिए और जिसमें मैथिलीशरण जी की लेखनी अत्यन्त समर्थ है।" (आस्था के चरण, पृ.-585)

संपूर्ण महाभारत को संक्षेप में पद्यबद्ध करने के प्रयत्न में ही गुप्त जी को विभिन्न प्रकरणों में समास-शैली का सहारा लेना पडा है। इससे एक कठिनाई पैदा हो गई। 'जयभारत' का आस्वादन वही पाठक भली-भाँति कर पाएगा जो 'महाभारत' की सूक्ष्म घटनाओं और प्रसंगों को मूल रूप में जानता हो। यह समस्या 'जयद्रथ-वध' के पाठक के सामने नहीं थी। गुप्त जी इस कृति में अपने समय के विवेक के साथ हैं, इसीलिए उन्होंने कुछ प्रसंगों में अपनी कल्पना-शक्ति का भी उपयोग किया है। ऐसा उन्होंने साधिकार ही किया है। संग्रह और त्याग में गुप्त जी अपने पुराने अनुभवों से लाभ उठाते हैं, इससे 'जयभारत' की रचनात्मकता में प्रगति हुई है।

'जयभारत' की कथाएँ अधिकांश में प्रख्यात हैं। आरंभ हुआ है नहुष की पुराण-गाथा से। प्रभुता पाकर नहुष की दृष्टि में इन्द्र-पद के साथ-साथ इन्द्र की पत्नी शची भी आ जाती है। ऋषिगण उसकी महत्त्वाकांक्षा में सहायक बनते हैं और विवश भाव से ही सही उसे यान में बैठाकर शची के समीप चल पड़ते हैं। पर भार की प्रेरणा से अधीर आरोही विकल हो उठते हैं। ऋषि के बार-बार कन्धा बदलने से नहुष पैर पटकता है और उसका पैर एक ऋषि को जा लगता है। ऋषि का क्रोधानल भड़क उठता है और वे नहुष को शाप दे देते है–"पामर। पतित हो तू होकर भुंजग ही।" इस प्रकरण के अन्त में नहुष अपनी महत्त्वाकांक्षा को सही ठहराता है–

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मै,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मै,

दूसरा प्रकरण 'यदु और पुरु' है। इसमें ययाति, देवयानी और शर्मिष्ठा की कथा है। इसमें भोग-वृत्ति की समीक्षा है। ययाति की भोग-लालसा उसको अपने पुत्र से यौवन उधार लेने की प्रेरणा देती है। अद्‌भुत है यह कथा। भारतीय पुराण-गाथा में आधुनिक मनुष्य के सबक के लिए पर्याप्त सामग्री है।

तीसरे प्रकरण 'योजन गन्धा' के आरंभ में ही गुप्त जी प्रसंगों को समेट कर प्रबन्ध को महाभारत की मुख्य कथा पर केन्द्रित कर देते हैं—

पूज्य ययाति पिता के वर से हुई पुत्र पुरु की कुल-वृद्धि!
और आप यदु ने भी पाई आभिजात्य के साथ समृद्धि।
उपजे भरतभूप पुरु-कुल में, बना उन्हीं से भारतवर्ष
कर अवतरित आप श्री हरि को पाया यदु-कुल ने उत्कर्ष।
परे कृष्ण से और कौन है, जिसको कोई जाति जने ?
पुरु कुल में कुरु जन्मे, जिनसे पौरव-कौरव कृती बने।
महाराज शान्तनु से कुरुकुल हुआ और मानी-दानी,
देवव्रत-सा कुलधन जिसका, गंगा-सी जिनकी रानी।

इसके बाद ही शान्तनु और योजनगन्धा (मत्स्यगन्धा) की कथा शुरू हो जाती है और महाभारत के एक-एक प्रसंग को लेकर गुप्त जी कथा को आगे बढाते जाते हैं। अधिकांश प्रसंगों में गुप्त जी यथार्थ को काव्य-सत्य के आलोक में उदात्त मानवीय आधार देते जाते हैं। इस दृष्टि से एकलव्य, हिडिम्बा, द्यूत, वन-वैभव और स्वर्गारोहण अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं।

स्वर्गारोहण में युद्धोपरान्त की कथा है। पाण्डव द्रौपदी समेत स्वर्गारोहण के लिए चल पड़ते हैं। गुप्त जी लिखते हैं—

भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले-भले,
सपूर्ण प्रपंचों से ऊपर
उठ पॉच पच ये कहॉ चले ?
रख एक शान्त रस अन्तस् में
विष-सा विषयों को त्याग चले,
दुखों से लडकर शूर-सदृश,
सुख के स्वप्नो से जाग चले।

धरती पर धर्म-राज्य की स्थापना कर, सब प्रकार के भोगो से मुँह मोडकर ये चल पडे हैं। "नीचे अवनी, ऊपर अम्बर, अब इन्हें मध्य पथ बढा रहा/गिरिराज उठाकर गोदी में मानों कन्धों पर चढ़ा रहा।" पर सोने के सुमेरु तक पहुँचते-पहुँचते याज्ञसेनी गिर पडती है। वह कहती है–

"मैं गिरती हूँ, यह गिरी प्रभो,
पर पहुँचूंगी तुमसे पहले।"

इस पर युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया है—

"तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति/यह पक्षपातिता मेरी ही।"

थोड़ी दूर आगे "बोले सहदेव तनिक चलकर, हे आर्य, अचल यह गात हुआ/मैं गिरा, द्रौपदी-बिना मुझे मानो यह पक्षाघात हुआ।" इस पर युधिष्ठिर की स्वीकारोक्ति है–

"तुम नहीं, गिरा तुममें मेरा
ज्ञानाभिमान जो उठा रहा।"

इसी तरह क्रमशः नकुल, धनंजय और भीम भी गिर पडते है। युधिष्ठिर के अनुसार ये क्रमशः उनके सौन्दर्य, मद और औद्धत्य के पतन के सूचक हैं। इनका संग छूट जाना कवि की दृष्टि में युधिष्ठिर का सारे बन्धनों, भौतिकता के सब भावों से मुक्त हो जाना है। युधिष्ठर सही अर्थ में यहीं स्थितप्रज्ञ दिखाये गये है। गुप्त जी लिखते हैं—

खुल गये सभी बन्धन मानो, अब आप आप वे व्यक्त हुए,
भौतिकता के सब भाव स्वयं आध्यात्मिकता से त्यक्त हुए।
उस विषम दशा में पडकर भी क्या ही सहिष्णु थे वे विनयी,
निकले उनके-से पुरुष वही जो हुए अन्त में प्रकृतिजयी।
उन्मुक्त जीव से वे सुकृती स्वच्छन्द, स्वस्थ अब दीख पडे,

उनकी गति देख सुवर्ण-शिखर रह गये जहाँ के तहाँ खड़े।
जिन अनुजों को ही देख सदा मानो सजीव थे वे जग में;
कैसे वे ऐसे छोड उन्हे बढ़ गये परम दुर्गम मग में ?
(जयभारत, पृ.-443)

युधिष्ठिर निस्पृह भाव से मार्ग में बढते जाते हैं। उनके साथ बस एक कुत्ता ही रह जाता है। मातलि इन्द्र का रथ लेकर सदेह युधिष्ठिर को स्वर्ग ले जाने आते हैं, पर उनके साथ जो कुत्ता है उसे रथ पर चढ़ाना मातलि को रथ का अपमान लगता है, जिज्ञासा करने पर कि रथ पर कुत्ते का चढना क्या स्वयं इन्द्र को नही खलेगा–युधिष्ठिर कहते हैं–

खलता अवश्य, होता यदि मैं रूपानुरूप लोकाचारी,
भौतिक सीमाएँ भद्र, स्वयं अब छूट गईं मेरी सारी।
तुम जाओ मेरा भाग्य नहीं, जो मैं सुदेव-दर्शन पाऊँ,
शरणागत अनुजाधिक सहचर यह श्वान छोड़ क्योंकर जाऊँ ?

तब कुता धर्म के रूप में प्रकट होकर उन्हें समझाता है कि वे उत्तीर्ण हुए। यह धर्मराज की परीक्षा थी। अमरपुरी में युधिष्ठिर की इच्छा से उन्हें घुमाया जाता है तो स्वर्ग के समीप उन्हें नरक दिखता है जिसमें उनके बन्धु-बान्धव चीत्कार कर रहे हैं। धर्मराज के स्पर्श से मिलने वाली वायु उन्हें विश्रान्ति पहुँचाती है। अपने आत्मीय स्वजनों की दशा देख युधिष्ठिर द्रवित हो उठते हैं। उनके मन में यह भाव उठता है–

हो जाय न दग्ध, मुझे भय है, दिव इसी दाह से दरक कहीं ?
यदि यह सड़ॉध फैली आगे तो न हो स्वर्ग भी नरक कहीं।

यही सोचकर युधिष्ठिर देवदूत से कहते हैं

जाओ तुम यहीं रहूँगा मैं;
इन आत्मीयों के साथ सदा
स्वर्गाधिक नरक सहूँगा मैं।
(जयभारत पृ.-451)

युधिष्ठिर के इस दृढ निश्चय से वहाँ का दृश्य ही बदल गया। यह उनकी अन्तिम परीक्षा थी जिसमें वे उत्तीर्ण हुए और उनके साथ सभी स्वजनों बन्धु-बान्धवों को स्वर्ग में स्थान मिला। गुप्त जी के इस प्रबन्ध स्थापत्य में नयेपन का अनुसन्धान किया जा सकता है, पर महाभारत का सुस्पष्ट आधार डॉ. बच्चन सिंह को लिखने की प्रेरणा देता है कि 'जयभारत' में उनके पुराने आदर्श दुहराये गये है। नर में ही नारायण की प्रतिष्ठा, सबके सुख की कामना, अबला जीवन की कहानी,

वैष्णव दृष्टि की पुनः स्थापना 'जयभारत' में द्रष्टव्य है। इस बड़े काव्य में 'युद्ध और 'शान्ति-सन्देश' जैसे सर्गों का महत्त्व इस बात में निहित है कि गुप्त जी युद्ध और शान्ति जैसे शाश्वत सवालों पर गंभीरता से विचार करते हैं।

'जयभारत' पौराणिक आख्यान पर आधारित प्रबन्ध है, परन्तु युग-धर्म इसमें स्पष्ट झलकता है। गुप्त जी सच्चे अर्थों में इस युग के कवि हैं, हमारे आदरणीय राष्ट्रकवि, जिनमें जातीय जीवन की जड़ों को टटोलने की बड़ी क्षमता है। वे द्वापर, त्रेता, सतयुग जहाँ कहीं भी गये हैं, अपने युग को साथ ले गये हैं। आज का युग-धर्म है मानववाद और गुप्त जी ने महाभारत के पात्रों का निर्माण इसी के आधार पर किया है। उदाहरण के लिए, दुःशासन में भी गुप्त जी ने भ्रतृ-भक्ति खोज निकाली है–

> इच्छा तुम्हारी अविचारणीया, होती नहीं तो फिर सोचता मैं
> खींचूँ न खींचूँ बल से सभा में, दुकूल किंवा कच द्रौपदी के।
> कहे मुझे जो कुछ लोक चाहे, तो भी इसे कौन नहीं कहेगा।
> भाई नहीं ; किंकर मैं तुम्हारा, मैं चाहता राज्य नहीं तुम्हें ही।
> (जयभारत, पृ.-215)

दुर्योधन को भी राष्ट्रकवि ने पश्चात्ताप के पर्याप्त अवसर दिये हैं और उसे दुर्योधन से सुयोधन बना दिया है। गुप्त जी ने युधिष्ठिर को 'जयभारत' में वैसा ही महत्त्व दिया है, जैसा रघुवंश में कालिदास ने राम को, पर कुल मिलाकर 'जयभारत' एक महान काव्य है, महाकाव्य नहीं। इस कृति के 'अन्त' सर्ग में युद्धोपरान्त व्यथित मन से युधिष्ठिर श्री कृष्ण से आग्रह करते हैं कि जो गीता उन्होंने मोह-ग्रस्त अर्जुन को 'कुरुक्षेत्र' में सुनायी थी, वही एक बार पुनः युधिष्ठिर को भी सुनावें। इस पर–

> प्रभु मुसकाये, बोले–"पहले उस समाधि में जाऊँ;
> तब न तात मैं उसी गिरा में फिर निज गीत सुनाऊँ।
> (जयभारत, पृ.-430)

'साकेत' जैसा महाकाव्य लिखने के लिए राष्ट्रकवि को जैसी समाधि की आवश्यकता पड़ी थी, वैसी समाधि का साक्ष्य 'जयभारत' में नहीं मिलता, तथापि यह एक अविस्मरणीय गौरव ग्रन्थ है, शायद इसलिए भी कि इसमें युधिष्ठिर मानवता की जय को प्रतिरूपित करते हैं।

5

हिन्दी नवजागरण और गुप्त जी का काव्य.

हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है—

खलगनन सों सज्जन दुखी मति होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दुःख बहै।।
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।।
(भारतेन्दु-समग्र, पृ.-404)

इसमें भारत की जनता की कर-दुःख से मुक्ति की कामना के साथ-साथ उपधर्म से छुटकारे की बात की गई है। पाश्चात्त्य शिक्षा के ज्ञान का फल जिन्होंने चख लिया है, वे विवेक का परित्याग न करें, नर-नारी समान हों, सारी दुनिया में सुख-शान्ति हो, अश्लील और फूहड़ अपसंस्कृति को त्यागकर लोग सुकवियों की अमृत-वाणी में रुचि लें, खलों के दुर्व्यवहार का शिकार सज्जन न हों और सबसे बड़ी बात हरिपद में रति बनी रहे—इसे पढ़कर लगता है जैसे भारतेन्दु ने सौ-सवा सौ साल पहले नहीं—अभी-अभी इसे लिखा हो। हरिश्चन्द्र की इस शुभकामना में भारतीय जनता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ व्यक्त हुई थीं। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भारतेन्दु की इसी शुभकामना को कुछ अधिक व्यापक रूप में अभिव्यक्ति दी। उनमें भी वही वैष्णव भावुकता मिलती है जो भक्तहृदय भारतेन्दु के काव्य में। वे भी हरिश्चन्द्र की भाँति ही हरि पद में रति रखनेवाले एक वैष्णव कवि हैं, एक ऐसे भक्त कवि, जिसकी भक्ति-भावना में स्वदेशानुराग निहित है। देश-भक्ति और राजभक्ति का जो मिला-जुला स्वर भारतेन्दु की कविता में सुनाई पड़ता है, वह कमोबेश मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भी मौजूद है। दोनों ही 'प्राच्य विद्यावाद, (Orientalism) के नव उपनिवेशवादी मायापाश' को अपनी रचनाओं से छिन्न कर देना चाहते हैं।

डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं—"विचार-बोध की दृष्टि से समूचा नवजागरण एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें बौद्धिकता के साथ भावुकता है, ऐहिकता के साथ

आमुष्मिकता भी और यथार्थवाद के साथ ही रहस्यवाद के तत्त्व भी घुले-मिले हैं।" मैथिलीशरण गुप्त का काव्य नवजागरण की इस संश्लिष्ट प्रक्रिया के भीतर है। इसमें बौद्धिकता और भावुकता, ऐहिकता और आमुष्मिकता, यथार्थवाद और रहस्यवाद की एक साथ अभिव्यक्ति हुई है। भारतेन्दु के समान गुप्त जी ने भी अपनी संवेदना की खिड़कियाँ और दरवाजे उन्मुक्त रखकर ही नवजागरण की चेतना को अपनी कविता में आत्मसात कर लिया है। उनकी राष्ट्रीय भावधारा के भीतर 'आनन्दमठ' के बंकिमचन्द्र हैं, तो मराठी के 'गीता रहस्य' वाले लोकमान्य तिलक भी। 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखक दयानन्द सरस्वती को भी इस भावधारा में शामिल कर लेने से गुप्त जी की राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक आधार अस्पष्ट नहीं रह जाता। उनका देश-प्रेम धर्म-भावना के आधुनिक स्वरूप के भीतर है। इससे वह कहीं अधिक मानवीय और लोक सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित हो सका है।

गुप्त जी ने हिन्दी नवजागरण को पूरी तन्मयता से अपनी कविताओं में वाणी दी है, विशेषत : 'भारत-भारती' में।.अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की दासता से लड़ने में गुप्त जी ने अपने तरीके से भारतीय जनता को सहयोग दिया है। इस अर्थ में उनका काव्य अधिकांश में हमारा जातीय संगीत है। देश-प्रेम को अकारण ही उनकी कविता में सर्वोपरि स्थान नहीं मिला है। गुप्त जी की एक अत्यन्त लोकप्रिय कविता है--'मातृभूमि'--इसमें ये पंक्तियाँ आती हैं--

नीलाम्बर परिधान हरित पटपर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द शेष-फण सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की,
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्त्ति सर्वेश की।

गुप्त जी इस कविता में अपनी नवीन वैष्णव भावुकता के भीतर स्वदेशानुराग की सगुण साकार प्रतिमा बनाते हैं। उनके लिए स्वदेश सगुण मूर्त्ति है सर्वेश की। इसमें नदियाँ, फूल-तारे, हरि पटपर, खग वृन्द, पयोद सब शामिल हैं। 'भारत-भारती' में गुप्त जी स्वदेश-प्रेम का तर्क देते हैं। वे भारत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं--

भू लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ ।
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।
(भारत-भारती. पृ.-10)

इसमें गिरि हिमालय, गंगाजल, ऋषि भूमि ऐसे शब्द हैं जो एक साथ ही गुप्त जी की धर्म-भावना और स्वदेश-प्रेम को प्रतिरुपित करते हैं। इनके समन्वित मूर्त्ति-विधान में गुप्त जी की जातीय संवेदना का निर्माण हुआ है। गुप्त जी जिस युग की सहृदयता और बौद्धिकता का समन्वित प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी युग की एक महत्त्वपूर्ण देन है—समालोचक प्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। उनका एक प्रबन्धात्मक निबन्ध है–'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'। इसमें एक जगह शुक्ल जी पूछते हैं—"देश-प्रेम क्या है ?" तत्क्षण जवाब देते हैं-"प्रेम ही तो।" इस प्रेम का आलम्बन क्या है ? 'इस दूसरे सवाल के जवाब में शुक्ल जी लिखते हैं—"सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी, नदी-नाले, वन-पर्वत सहित सारी भूमि" इस प्रेम का आलम्बन है। इस प्रसंग में शुक्ल जी आगे लिखते हैं–"यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता-गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत नदी, निर्झर आदि सबसे प्रेम होगा... जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी आँख उठाकर नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का पता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों ! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा ?" (चिन्तामणि द्वितीय भाग, पृ.-41)

प्रसंगवश, 'मेघदूत' की चर्चा करते हुए अन्यत्र शुक्ल जी लिखते हैं—

"मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता 'मेघदूत' में मिली है वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। पूर्व मेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत-भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है... मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक सहृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।' (रस मीमांसा, पृ.-10)

गुप्त जी को कवि-प्रतिभा कालिदास-जैसी नहीं मिली। उन्हें रवीन्द्रनाथ और निराला के समान कल्पना का धनी भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु अपने देश के प्रति उनका अनुराग प्रबल है। वे भारत-भूमि की रूप माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि रखनेवाले राष्ट्रभाषा के राष्ट्रीय कवि हैं। हिन्दी नवजागरण के व्यापक परिदृश्य में गुप्त जी का काव्य इसीलिए अधिक अर्थवान और प्रासंगिक हो गया है। विशेषतः 'भारत-भारती' में गुप्त जी हिन्दी नवजागरण को अत्यन्त शक्तिशाली अभिव्यक्ति देते हैं। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच-बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत

साफ और सीधी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। 'भारत-भारती' में गुप्त जी जिस विशेष कोटि की राष्ट्रीयता काव्यबद्ध करते हैं, उसके मूल में देश-दशा का ध्यान है। इसे काफी पहले भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' में रूपायित किया था—

सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्या फल जिन गहि लीनो।।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।
(भारतेन्दु-समग्र, पृ.-462)

'भारत-दुर्दशा' की वेदना का ही प्रसार 'भारत-भारती' है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद को गुप्त जी सीधे तौर पर नहीं ललकारते तथापि उनका देश-प्रेम पाश्चात्त्य शिक्षा-सभ्यता में रमे तथाकथित विश्वचेतना वाले मनीषियों से भिन्न कोटि का है। उनका देश-प्रेम जातीय चेतना से संबद्ध है, बल्कि उसे ही प्रतिबिम्बित करता है—

मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती-
भगवान भारत वर्ष में गूँजे हमारी भारती।

गुप्त जी की जातीय चेतना में जाति का अर्थ है 'आर्य', जिसके बारे में 'भारत-भारती' के कवि की मान्यता है—

यह पुण्यभूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य्य है,
विद्या, कला-कौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य्य हैं।
सन्तान उनकी आज यद्यपि हम अधोगति में पड़े—
पर चिह्न उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े।

'भारत-भारती' में आर्यों की उच्चता के शेष चिह्न विशेष प्रयोजन से रेखांकित किये गये हैं। बंकिम ने कहीं लिखा है—"कोई राष्ट्र अपने इतिहास में अस्तित्व ग्रहण करता है, इसलिए अपने इतिहास का ज्ञान ही किसी जाति का आत्म-ज्ञान है।" 'भारत-भारती' का अतीत खण्ड कविता में लिखा हमारा जातीय इतिहास है और यह पराधीन भारतवासियों को हीन भावना से बचाने में सहायक हुआ, यह सभी जानते हैं। गुलामी की बेड़ियों में जकड़े भारतवासियों को संबोधित कर गुप्त जी 'भारत-भारती' में कवि की भूमिका से कहीं ज्यादा बड़ी भूमिका का निर्वाह करते हैं। उन्होंने भारतवासियों के सामने प्रस्ताव रखा

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होगे अभी,
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।

गुप्त जी को जो लोग 'पुनरुत्थानवादी' कहते है, वे भी स्वीकार करेगे कि अतीत का विस्मरण-किसी भी जाति को दया का पात्र बना देता है। व्यक्ति हो या समाज—काल की अखण्ड चेतना के बिना दीर्घ जीवन नहीं हो सकता। गुप्त जी ने 'भारत-भारती' उस समय लिखी जब हमें समझाया जा रहा था कि हमारा कोई इतिहास नहीं है, हमारी कोई जातीयता नहीं है, हम अंग्रेज़ी शिक्षा-सभ्यता के संपर्क में ही पहली बार राष्ट्र या राष्ट्रीय भावना से परिचित हुए। पर गुप्त जी इस अफवाह को निर्मूल साबित करते हैं—'भारत-भारती' में। उन्होंने इसके अतीत खण्ड में 'प्राचीन भारत की झलक' शोधपूर्वक दिखायी। आर्य पुरुषों और आर्य स्त्रियों के चरित्र और आदर्श के गुण गाते राष्ट्रकवि थकते नहीं—लिखते हैं—

वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे,
वे स्वार्थ-रत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे।

* * *

वे मेदिनी तल में सुकृत के बीज बोते थे सदा,
परदुःख देख दयालुता से द्रवित होते थे सदा।

* * *

संसार के उपकार हित जब जन्म लेते थे सभी,
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी ?

* * *

फैला यहीं से ज्ञान का आलोक सब संसार में,
जागी यहीं थी जग रही जो ज्योति अब संसार में।

जातीय गौरव का यह स्मरण पराधीन भारत का एक किसान कवि कर रहा था। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। यह किसी साम्राज्यवादी देश का कवि नहीं था। सन्दर्भ विशेष को भुलाकर किया गया मूल्यांकन अनायास ही अवमूल्यन के प्रयास में पर्यवसित हो जाता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

गुप्त जी पराधीन भारत की जनता की आकाँक्षाओं और अपेक्षाओं को अपने देशज़ संस्कारों में पूरी क्षमता से वाणी दे रहे थे। जो लोग उन्हें इतिहास की धारा में नहीं देख पाते, और उनकी राष्ट्रीय भावना को हिन्दूवादी घोषित करके गौरव का अनुभव करते हैं, वे पराधीन जाति की वेदना को बिल्कुल ही महसूस नहीं करते। जातीय गौरव का स्मरण गुप्त जी को पराधीनता से मुक्ति का रास्ता दिखाता है। इसमें वर्तमान की दुर्दशा उत्प्रेरण का कार्य करती है। 'भारत-भारती' में, ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी भारतवासियों को गुलामी की जंजीरें तोड़ फेंकने को उकसा

रहे हों। अधिकाँश में यह कृति एक प्रभावशाली उद्बोधन है। और, अन्त में जो 'विनय' है, उसमें गुप्त जी बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हैं कि "संपूर्ण गुण-गौरव-रहित हम पतित अवनत हो चुके।" 'पतित अवनत' उनके लिए कोई अमूर्त्त प्रयोग नहीं है। पराधीनता को नतशिर होकर स्वीकार लेना ही 'पतित अवनत' होना है। 'परवशता' को गुप्त जी पशुतुल्य मानते हैं। वे पुनः-पुनः स्मरण कराते हैं कि जिन आर्यों को सन्तान है हम–

वे मोह बन्धन मुक्त थे, स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे,
संपूर्ण सुख-संयुक्त थे, वे शान्ति शिखरासीन थे।
मन से, वचन से, कर्म से, वे प्रभु-भजन में लीन थे,
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के वे मनोहर मीन थे।
(भारत-भारती, पृ.-12)

मोह-बन्धन मुक्त, स्वच्छन्द और स्वाधीन क्रमशः पाँव लेता हुआ वह काव्य-मूल्य है जो 'भारत-भारती' में शिशु-रूप में दिखाई देता है। गुप्त जी लोक जागरण के कवियों की परम्परा का स्मरण करानेवाले वह प्रथम आधुनिक हैं, जिनकी कविता में नवजागरण की चेतना अभिधा में ही व्यक्त हुई है। उनके लिए संस्कृति-विहीन जाति या राष्ट्र की कल्पना मुश्किल ही नहीं, असंभव है। भारतीय राष्ट्रीयता की पहचान उनकी धर्म-भावुकता के साथ ही 'भारत-भारती' में करना समीचीन है।

'प्राचीन भारत की झलक' में गुप्त जी भारतीय अस्मिता के व्यापक सरोकार देखते-दिखाते हैं। इसमें तपोवन है, गुरूकुल है, शिक्षा और चारित्रय है यानी पूरा एक 'विजन' है। इस विजन के अभाव में गुप्त जी कदाचित 'राष्ट्रकवि' के आसन तक नहीं पहुँच पाते। राष्ट्र की सांस्कृतिक अस्मिता में ही उनका वह मन्तव्य निहित था, जो किसी जाति की स्वाधीनता की चेतना का नियामक होता है। 'राष्ट्रवाद' निस्सन्देह एक संकीर्ण विचारधारा है, परन्तु यह संकीर्णता स्वाधीन सापेक्ष है। जो पराधीन हैं, बिना राष्ट्रवादी हुए स्वाधीन होने की कल्पना नहीं कर सकते। गुप्त जी का महत्त्व इस तथ्य में है कि उनकी बहिर्मुखी लक्ष्यनिष्ठ आसावित पराधीन भारतवासी को अपनी हीनता ग्रन्थि से उबरकर स्वातन्त्र्य-पथ पर अग्रसर होने की शक्ति और प्रेरणा दे सकी। विशेषतः 'भारत-भारती' में गुप्त जी पूर्व की संपन्नता और वर्तमान की विपन्नता को अगल-बगल रखकर प्रसन्न भविष्य की सुखाशा उपजा सकने में सफल हुए हैं। उनकी यह सफलता हिन्दी नवजागरण के परिदृश्य में अधिक अर्थपूर्ण प्रतीत होती है। गुप्त जी का काव्य राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह में शामिल है, यह कोई साधारण उपलब्धि नहीं कही जाएगी।

गुप्त जी का व्यक्तित्व-विकास जिस वातावरण और परिवेश में हुआ था, उसमें धार्मिकता की प्रवृत्ति स्वाभाविक कही जाएगी। यह और भी उल्लेखनीय

है कि उनकी वैष्णवता 'आचरण की सभ्यता' नहीं है। वह अत्यन्त उदार और सहिष्णु, वैष्णवता है, जो सर्वधर्म समभाव का पर्याय है। ईश्वर में आस्था देश-दशा के प्रति राष्ट्रकवि को सजग करती है। इस कारण वे मध्यकाल के सन्त-भक्त कवियों की स्मृति उजागर करते हैं। कबीर, तुलसी, मीरा की धार्मिकता ऐसी ही थी। गुप्त जी को सीधे तौर पर गोस्वामी तुलसीदास जी की परम्परा में देखा जाता है और यह सही भी है। दोनों कवियों ने राम की भक्ति को लोकमंगल की चेतना में रूपायित कर दिया है। इनकी धार्मिकता व्यक्तिवादी नहीं है, बल्कि तथाकथित समाजवादियों की सामाजिकता से अधिक सामाजिक है। तुलसी के राम ईश्वर हैं, अवतार हैं—यह सच है लेकिन यह अवतार पृथ्वी को 'निसिचर हीन' करने के लिए हुआ है, यह ज्यादा बड़ा सच है। 'साकेत' में गुप्त जी के राम कहते हैं—

मैं भव में वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।
(साकेत, पृ.-167)

यहाँ राम का स्वरूप नवयुग के साँचे में ढला है। गुप्त जी की वैष्णवता गाँधी जी के वैष्णव जन की वैष्णवता है। वैष्णव वह है जो पीर पराई जाने। वह परदु:खकातर हो, निरभिमान भी। अतः जो पराई पीर से निरपेक्ष है, परदु:खकातर नहीं है, वह साम्यवादी हो अथवा समाजवादी—गुप्त जी की आलोचना का अधिकार नहीं रखता। केवल तर्क के लिए तर्क, ज्ञान छाँटने में मशगूल बौद्धिकता पानी के बुलबुले की तरह क्षण भर में तिरोहित हो जाती है। जबकि आचरण का सुदृढ़ आधार पाकर गुप्त जी के शब्द समय के साथ अर्थ-प्रसार करते जाते हैं।

गुप्त जी अपनी धर्म-भावुकता को कहीं छिपाते नहीं हैं, न शब्द में, न कर्म में। इसके अतिरिक्त कविता और राजनीति के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करने के लिए उनका काव्य आधुनिक युग में पहली बार पूरी तैयारी के साथ सामने आता है। 'भारत-भारती' में गुप्त जी का राजनीतिक उद्देश्य संस्कृति-विवेचन के भीतर अन्तःसलिला की तरह मौजूद है। उनकी वैष्णव-भावना में जातीय स्वाभिमान पूरी गरिमा के साथ गूँजता है। डॉ. प्रेमशंकर ठीक ही लिखते हैं कि—"भारत में राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि में भारतीय नवजागरण है, जिसके प्रस्थान—बिन्दु के रूप में राजा राम मोहन राय का उल्लेख किया जाता है। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसॉफी आदि आन्दोलन इसी से जुड़े हुए हैं। समाज सुधार और पुनर्जागरण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की पीठिका में सक्रिय रहे हैं।" स्वाधीनता—संग्राम के सेनानी को भी पता था कि समाज—सुधार और आजादी

की लड़ाई एक–दूसरे के पूरक हैं। बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, ऐनी विसेण्ट, अरविन्द, बिनोबा ने दोनों कार्य समान भाव से संपन्न किये। इन्होंने गीता पर भाष्य भी लिखा और स्वाधीनता आन्दोलन को प्रेरणा और प्रोत्साहन भी दिया। बाद में आचार्य नरेन्द्रदेव, संपूर्णानन्द, डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे नेताओं में देश और जाति के प्रति एक खास तरह की सजगता दिखाई पड़ती हैं। एक भिन्न प्रकार की सजगता डांगे में भी मिलती है। गुप्त जी सभी संप्रदायों और सरणियों की यथास्थिति से छेड़छाड़ किये बिना जातीय और सांस्कृतिक ऐक्य पर बल दे रहे थे। मुख्य बात यह नहीं है कि गुप्त जी हिन्दू भारत का वैभव चित्रित करते हैं–मुख्य बात यह है कि अपने ढंग से वे भारतीय राष्ट्रीयता की जड़ें जातीय जीवन के अमृत–तत्त्व से सींचने का प्रयत्न करते हैं। उनके काव्य में मध्यकालीन लोक जागरण और उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नवजागरण की संवेदना समन्वित रूप में अभिव्यक्त हुई है।

6

किसानों की नियति से साक्षात्कार

इस शताब्दी के आरंभिक दशकों में ही हिन्दी कविता का वर्ण्यविषय सामान्य जन बनने लगे थे। दरअसल खड़ी बोली पद्य के आन्दोलन के मूल में नवयुग की समस्याओं की अभिव्यक्ति की माँग थी, जिसे ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली पूरा करने में असमर्थ थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने गद्य के स्तर पर नवयुग की अपेक्षाओं का सामना किया था, पर पद्य में श्रीधर पाठक और उनके बाद के कवियो ने ही इस दिशा में रचनात्मक प्रयत्न किया। कहना अनावश्यक है कि नवयुग की विविध समस्याओं का समन्वित रूप साम्राज्यवाद के खिलाफ भारतवर्ष की जनता के मुक्ति-संघर्ष में ही प्रतिबिम्बित हो रहा था। एक विशिष्ट शैली में यह मुक्ति-आन्दोलन आरम्भ में सांस्कृतिक स्तर पर भारतीयता के तिरोहित हो रहे स्वरूप की रक्षा के प्रयास में ही प्रत्यक्ष हो रहा था। द्विवेदी-युग के कवियों ने भी अपने समय की संवेदना से अनुप्राणित होकर भारतीय जनसाधारण को हमारी जातीय चिन्ताधारा के अनुरूप कविता के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस वक्त देश के भीतर एकमात्र राष्ट्रीय स्तर पर काँग्रेस ही एक ऐसी राजनीतिक संस्था थी जो भारत के मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी और वह धीरे-धीरे सामान्यजन को भी अपनी संवेदना में जगह देने लगी थी। इधर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगी कवि-लेखक लगातार रीतिवादी कलामूल्यों के विरोध में और अधिक मुखर हा रहे थे। हिन्दी जाति की अस्मिता की पहचान का यह संयमित और रचनात्मक प्रयास ही द्विवेदी युग का काव्य है जो अपने समय की भारतीय राजनीति और सामाजिक चेतना से कई मामलों में अधिक प्रगतिशील था। यह अलग बात है कि आज की हिन्दी कविता की प्रगति को देखते हुए खुद महावीर प्रसाद द्विवेदी काफी पिछड़े हुए कवि लगते हैं।

द्विवेदी जी अपनी कविताओं के बारे में किसी भ्रम के शिकार नहीं थे। उन्हें पता था कि उनकी कविताएँ इतिवृत्तामक और शिथिल पदबन्ध का नमूना हैं तथापि रीतिवाद के खिलाफ अपनी कविताओं में और खासतौर से 'सरस्वती' के संपादक

की हैसियत से उन्होंने जो संघर्ष किया, उसे भुला देना कृतघ्नता होगी। द्विवेदी जी अपनी समझ को आगे बढ़ाकर यह निष्कर्ष निकाल सके थे कि कविता का विषय मनोरंजन होने के साथ ही उपदेशपरक भी होना चाहिए। द्विवेदी जी के मतानुयायी मैथिलीशरण गुप्त भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि–

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,

उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए (भारत-भारती, पृ.-177) द्विवेदी जी अपने युग के एक अद्वितीय काव्यानुशासक थे और कई बार अपनी सीमाओं के पार जाकर भी उन्होंने उस युग के कवियों का मार्ग-दर्शन किया। उन्होंने अपने समय का 'कवि-कर्त्तव्य' निश्चित करते हुए लिखा था–

"यमुना किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। अब न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की आवश्यकता है और न स्वीकीयाओं के गतागत की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी सभी पर कविता लिखी जा सकती है।" (रसज्ञ-रंजन, पृ.-23) ऐसा नहीं था कि द्विवेदी जी 'शुद्ध कविता' की अवधारणा से अपरिचित थे। उन्होंने 'कालिदास की निरंकुशता' पर लेख लिखा था और आदिकवि वाल्मीकि से लेकर भावमूर्ति भवभूति तक की हृदयहीनता का रोना रोया था–कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता लेख में, जिससे प्रेरित-अनुप्राणित होकर गुप्त जी ने भी एक के बाद एक 'यशोधरा', 'उर्मिला', 'हिडिम्बा' और 'विष्णु-प्रिया' जैसी नारियों को काव्य नायिका का गौरवशाली पद प्रदान किया था। हिन्दी कविता का इतिहास गवाह है कि गुप्त जी ने उपेक्षितों के उद्धार की इस योजना को केवल स्त्रियों तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने गहराई से महसूस किया कि भारत वर्ष का उत्पादक वर्ग घोर विपन्न अवस्था में बिल्कुल कीड़े-मकोड़े का-सा जीवन व्यतीत कर रहा है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से समर्थन पाकर स्वदेशी पूँजीवाद अमानुषिक आचरण करने लगा था। इसके अतिरिक्त सामन्तवाद, जमींदारी प्रथा, महाजनी प्रथा में रूपान्तरित होकर भारत के मजदूरों और किसानों का खून चूसने लगा था। द्विवेदी जी ने इस आशय के लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित किये थे। यही नहीं, उन्होंने 'संपत्ति-शास्त्र' नामक एक महत्वपूर्ण अर्थशास्त्र की पुस्तक भी लिखी थी, जिसमें किसानों की गिरी दशा का विवरण था। एक जगह द्विवेदी जी ने लिखा था–

"खेतिहरों का व्यवसाय या पेशा खेती करना है और खेती खेतों में होती है। (हिन्दी) प्रान्तों में जितनी जमीन खेती करने लायक है, कुछ को छोड़कर बाकी सभी के मालिक जमींदार, ताल्लुकेदार, नबरदार और राजा रईश बने बैठे हैं। वे काश्तकारो से खूब लगान लेते हैं, उसे समय-समय पर बढ़ाते भी हैं और कारण

उपस्थित हो जाने पर उन्हें खेतों से बेदखल भी कर देते हैं। इस संबन्ध में जो कानून बने हैं वे काश्तकारों के सुभीते के कम और जमींदारों के सुभीते के अधिक है। अतएव जिस जमीन पर काश्तकारों का जीना-मरना अवलंबित है, उसके लगान आदि के नियन्त्रण के नियम सुभीते के न होने के कारण कभी-कभी काश्तकारों की बड़ी दुर्गति होती है।"

द्विवेदी जी ने जमींदारी प्रथा की विसंगतियों पर विचार करते हुए लिखा था कि–

"जमींदार लोग काश्तकारों से मनमाना लगान लेते हैं और एक निश्चित मियाद के बाद उन्हें जमीन से बेदखल कर देते हैं। कोई-कोई जमींदार सरकार को जितना लगान देते हैं, उससे बहुत जियादह काश्तकारों से वसूल करते हैं। इन बेचारे काश्तकारों को सालभर मेहनत करने पर भी पेट भर खाने को नहीं मिलता।"

"जब पैदावार बहुत कम हो जाती है और लगान बेबाक नहीं होता तब कर्ज लेना पड़ता है कम से कम कर्ज की मात्रा बढ़ती जाती है और एक दिन घर-द्वार, बैल बधिया सब नीलाम हो जाते हैं। खेती ही प्रधान व्यवसाय ठहरा। उसकी यह दशा होने से लोगों को भीख माँगने की नौबत आती है... यदि किसी साल पानी न बरसा तो भयंकर दुर्भिक्ष पड़ता है और लाखों लोग मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं।"

मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी के लेखों और पुस्तकों के साथ 'सरस्वती' में अक्सर प्रकाशित होनेवाले अन्य लेखकों के सारगर्भित निबन्धों को पढ़ा होगा। इसके अतिरिक्त किसानों और मजदूरों का फटेहाल जीवन उन्होंने अपनी ऑखों से देखा था। किसानी चेतना उनके कवि-व्यक्तित्व के लिए अत्यन्त स्वाभाविक थी। वे किसानों की नियति को अनदेखा नहीं कर सकते थे। अर्थात किसानो को आलम्बन बनाकर गुप्त जी ने यदि कविता-रचना की, तो मानना पड़ेगा कि इसमें उनकी ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान दोनों का मणिकांचन योग था।

गुप्त जी ने 'भारत-भारती' के वर्तमान खण्ड में ही कदाचित पहली बार भारतीय किसानों की नियति से विधिवत साक्षात्कार किया। उनकी वाग्मिता किसान-वर्ग से पूरी तन्मयता के बावजूद भारतीय किसानों की विपन्नता का मर्मस्पर्शी दृश्यालेख ही प्रस्तुत कर सकी। चिन्ता-निमग्न निसिवासर वर्तमान का यह ज्वलन्त पक्ष था, जिसे बिना किसी द्वन्द्व और आवरण के गुप्त जी ने मूर्त्त किया। उन्होंने देखा–

"दुर्भिक्ष मानो देह धर कर घूमता सब ओर है,
हा अन्न हा हा अन्न का रव गूँजता सब ओर है।

इस दुर्भिक्ष का शिकार सबसे अधिक किसान, उसके परिजन और बच्चे ही हो रहे हैं। अकाल काल का ग्रास बन जाना ही मानो उनकी नियति हो। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश में अन्न का अकाल अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की देन है, यह बात तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी जानते थे। उन्होंने बहुत पहले 'कवि वचन सुधा' में लिखा था—"अब तो प्रतिवर्ष कहीं न कहीं दुष्काल पड़ा रहता है। मुख्य रूप से अंग्रेजी राज में इनका घर है...जब अंग्रेज़ विलायत से आते हैं, प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से अपने विलायत जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं—इससे सिद्ध होता है कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज़ ही हैं।"भारतेन्दु के उपर्युक्त विचार की पुष्टि चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमधन' के एक लेख से होती है। प्रेमधन जी लिखते है—

"अंग्रेज़ी राज में कर के कारण जो क्लेश किसानों को अब सहना पड़ता है, वह पहले मुसलमानों के राज में न था।... पहले उपज बॉट लेने की प्रथा विशेष थी। उससे जब प्राकृतिक कारणों से किसान को कुछ न मिलता, बॉटनेवालो को भी कुछ न मिलता था सब जमींदार चकलेदारों के अधीन थे। चकलेदारों को जो एक बार बँध जाता था, वही उन्हें प्रतिवर्ष देना पड़ता था। इनके धावा करने व दौरा करने का समय नियत रहता था और जब कभी उनकी अवाई को अदेलिए किसान सुनते, अपनी लगाई पूँजी किसी को सौंप उनकी पहुँच से बाहर भाग जाते और उनके लौट जाने पर फिर लौट आते और जो बाकी पड़ जाती उसको वे कभी न देते। यह कहावत इस देश में निर्मूल नहीं है कि 'बाकी तो नवाब भी न पाते।' (पर) जब इस घरछोर समय मे कोई भागकर कहॉ जा सकता है ? सरकारी कुर्की और वारण्ट उसका पीछा नहीं छोड़ते। तब अधिकारी धनी थे, क्योंकि उन्हें शासन करने में इतना व्यय नहीं करना पड़ता था। जागीरों से उनका काम चल जाता था।" (प्रेमघन सर्वस्व-पृ 281-82, भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीनदशा शीर्षक लेख)

भारतेन्दु और प्रेमधन की परम्परा में मैथिलीशरण गुप्त भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अंग्रेज़ी राज में भारतीय किसानो की जीने की शर्तें और अधिक मुश्किल हो गईं। किसानों की दुर्दशा के अनेक कारण थे परन्तु प्रमुख था अन्न का निर्यात होना। गुप्त जी लिखते हैं—

अब पूर्व की-सी अन्न की होती नहीं उत्पत्ति है,
पर क्या इसी से अब हमारी घट रही संपत्ति है ?
यदि अन्य देशों को यहाँ से अन्न जाना बन्द हो
तो देश फिर संपन्न हो, क्रन्दन रुके, आनन्द हो
(भारत-भारती, पृ.-97)

अकाल, महामारी, बाढ सूखा, सरकारी टैक्स, महाजनी-प्रथा, जमींदार और उनके कारिन्दे, सामाजिक रूढियाँ, धार्मिक अन्धविश्वास–इन सबके बावजूद यदि अन्न का निर्यात नहीं होता तो द्विवेदी-युग में किसानों की उतनी दुर्दशा नहीं होती। गुप्त जी भारतीय किसान और कृषि की समस्याओं पर व्यापक रूप से विचार करते हैं।

सितम्बर 1915 की 'सरस्वती' में श्री कृष्णानन्द जोशी का 'भारतीय किसान' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें बताया गया था कि सरकार, जमींदार और साहूकार को उनका भाग देने के बाद जो कुछ बचता था वह नहीं के बराबर होता था। ऐसे में जिन्दा रहने के लिए द्विवेदी-युग का किसान महाजन से कर्ज लेता था और कई पीढ़ियों तक उसका गुलाम बन जाता था। साहूकार अपने कर्ज के बदले बेगार करवाते थे और कई बार ऐसी यन्त्रणाएँ देते थे, जिनके सामने मृत्यु की यन्त्रणा भी तुच्छ होती थी।

'भारत-भारती' में गुप्त जी भारतीय किसानो की फटेहाल स्थिति का वर्णन करते हैं। करोड़ों लोग किस तरह आधा पेट खाकर ही जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। उनका जब पेट ही नहीं भरता तब वे भक्तिभाव को किस तरह प्रश्रय दें ? हमारे यहाँ शास्त्र में कृषि-कर्म की श्रेष्ठता का उदात्त और भव्य शब्दावली में बखान किया गया है। पर गुप्त जी अपने समय के किसानो को देखकर व्यवस्था के प्रति क्षोभ से भर उठते हैं। वे विधाता से निवेदन करते हैं कि कृषक बनाने की जगह मनुष्य को वह भिक्षुक ही बना दे तो अच्छा है। कारण, किसानों की दशा भिखारियों से भी दयनीय है। आर्थिक अभाव की पीड़ा झेलते किसानों को ऊपर से दैवी प्रकोप का भी सामना करना पडता है। 'भारत-भारती' में गुप्त जी ने सन 1912 ई. में पड़े गुजरात के अकाल का उल्लेख किया है।

गुप्त जी जानते हैं कि अतीत में भारतीय किसानों की ऐसी दुर्दशा न थी। महाभारत के सभापर्व में स्पष्ट लिखा है कि कृषि-कार्य के लिए तब जलाशयों की उत्तम व्यवस्था थी। गुप्त राजाओं और मौर्य राजाओं के शासन-काल में कृषि-कार्य को प्राथमिकता प्राप्त थी और किसानों के प्रति चक्रवर्ती सम्राट् विशेष सहानुभूति रखते थे। परन्तु अंग्रेज़ी राज में यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। इस सन्दर्भ में, फ्रेडरिक एंगेल्स का विचार ध्यातव्य है। एंगेल्स के अनुसार–"यदि किसी राष्ट्र का इतिहास असफल और बेहूदा (और व्यवहार की दृष्टि से निन्दनीय) आर्थिक प्रयोगों से भरा हुआ है तो वह भारत में अंग्रेज़ी व्यवस्था का इतिहास है। बंगाल में उन्होंने बड़े पैमाने पर इंगलैण्ड की जमींदारी-प्रथा की भोंडी नकल की।" एंगेल्स की तरह कार्ल मार्क्स का भी कहना है कि "भारत में अंग्रेज़ी राज से पहले जमीन पर सामूहिक अधिकार होता था, किन्तु अंग्रेज़ों ने छोटे-छोटे आर्थिक संगठनों को छिन्न-भिन्न

करने के लिए शासकों और जमींदारों की हैसियत से अपने सीधे राजनीतिक अधिकारों का और अपनी आर्थिक शक्ति का एक साथ प्रयोग किया।"

(भारत सम्बन्धी लेख, पृ.-107)

गुप्त जी अंग्रेज़ी राज के साथ-साथ यहाँ की प्रकृति को भी किसानों की दुर्दशा का कारण मानते है। कभी अतिवृष्टि तो कभी अनावृष्टि का ऋतु-विपर्यय इन भाग्य-हीनों के लिए प्रकृति के नाम पर विकृति का साक्ष्य प्रस्तुत करता है—

हेमन्त में बहुधा घनों से पूर्ण रहता व्योम है,
पावस निशाओं में तथा हँसता शरद का सोम है।
हो जाय अच्छी भी फसल पर लाभ कृषकों को कहाँ ?
खाते खवाई, बीज ऋण से हैं रगे रक्खे कहाँ ?
आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अन्त में,
अधपेट खाकर फिर उन्हें है काँपना हेमन्त मे।

(भारत-भारती, पृ-11)

किसान अपना खून सुखाते हैं, पसीना बहाते हैं, तब जाकर खेत मे फसल लहलहाती है। वसुन्धरा किसान के शोणित से ही शस्य-श्यामला बनी है। खलिहान में अन्न का ढेर किसान के परिश्रम का फल होता है, जमींदार और उसके करिन्दे का उसमें कोई योगदान नहीं। पर किसान को उस अन्न के ढेर से क्या लाभ ? उन अभागों को तो भूख से ही मरना है। सारा अन्न कर्ज चुकाने के लिए वे महाजन को दे देते हैं।

कुल चार पैसे भी उनकी दैनिक आमदनी नहीं थी। गुप्त जी भारतीय किसान की तुलना योरोपीय किसान से करते हैं, तब एक दुखद विस्मयकारी तथ्य सामने आता है। योरोपीय किसान तब एक दिन में आठ रुपया अर्जित करते थे, जबकि भारतीय किसान कुल चार पैसा। हिन्दी भाषी जनता के प्रिय वैष्णव कवि मैथिलीशरण गुप्त का यह आचरण सचमुच हैरत में डाल देनेवाला है। वे बताते हैं कि औरंगज़ेब के शासनकाल में एक रुपये में आठ मन चावल मिलता था और द्विवेदी-युग में रुपये का आठ सेर भी नही। इसका कारण है—

होती नहीं है कृषि यहाँ पूरी तरह से अब कभी,
यद्यपि शुभाशा चित्त में होती हमें है जब कभी।
पाला कहीं, ओले कहीं, लगता कहीं कुछ रोग है,
पहले शुभाशा, फिर निराशा, दैव ! कैसा योग है।

(भारत-भारती, पृ.-100)

भारतीय किसान विपत्ति के झंझावात में भी हार नहीं मानता। राष्ट्रकवि उसकी संस्तुति में लिखते है—

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा-सा जल रहा,
है चल रहा सन-सन पवन, तन से पसीना बह रहा,
देखो कृषक शोषित सुखाकर हल तथापि चला रहे,
किस लोभ से इस अर्चि में वे निजशरीर जला रहे।
मध्यातन है उनकी स्त्रियाँ ले रोटियाँ पहुँची वहीं,
हैं रोटियाँ रूखी, खबर है शाक की उनको नहीं।
संतोष से खाकर उन्हें वे, काम में फिर लग गयी,
भरपेट भोजन पा गये तो भाग्य मानो जग गये।
(भारत-भारती, पृ.100)

एक ओर किसान को यह निसर्ग संतोष है तो दूसरी ओर आदमी के वेश म महाजनी-प्रथा के नियामक शोषण का फण फैलाए व्याल हैं। गुप्त जी की प्रतीति है कि किसान बन्धुओं की दशा पर दया भी आठ आँसू रो रही है। हिम,ताप, वृष्टि सहकर किसान के शरीर का रंग प्रगाढ़ काला पड़ गया है। गोबर पाथने, फसल काटने, परोहे लेने और घास खोदने के अतिरिक्त नाना गृह-कार्य संपन्न करने से किसान-पत्नी की नारी-सुलभ सुकुमारता निःशेष हो चुकी है। यह अलग बात है कि किसान स्त्रियाँ रात कुछ बाकी रहने पर ही प्राती गाने लगती हैं। सरदार पूर्ण सिंह के 'मजदूरी और प्रेम' निबन्ध में उनके गीतों का जीवनकामी श्रम-सौन्दर्य वर्णित है। परन्तु गुप्त जी 'भारत-भारती' में उनके बोल को तत्त्वतः 'रुदन का हँसना' ही मानते हैं। किसान की कर्त्तव्यपरायणता संपूर्ण विश्व में अद्वितीय है—

घनघोर वर्षा हो रही है, गगन गर्जन कर रहा,
घर से निकलने को कड़ककर वज्र वर्जन कर रहा,
तो भी कृषक मैदान में करते निरंन्तर काम हैं,
किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं।
बाहर निकलना मौत है, आधी अँधेरी रात है,
औ" शीत कैसा पड़ रहा है, थरथराता गात है,
तो भी कृषक ईंधन जलाकर खेत पर हैं जागते,
यह लाभ कैसा है न जिसका लोभ अब भी त्यागते।
(भारत-भारती, पृ.-101)

किसान की आवश्यकताएँ थोड़ी हैं। पर वे भी उन्हें प्राप्त नहीं। वे शिक्षा और सभ्यता के मामले में ठहरे हुए हैं। सतत दुःख-भार से किंकर्त्तव्यविमूढ़ गुप्त जी के किसान मतिभ्रष्ट हो गये हैं, उन्हें अपनी समुन्नति का मार्ग नहीं सूझता, वे अपना हिताहित नहीं समझ पाते। वे अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए हैं। गुप्त जी लिखते हैं–"विख्यात कमलालय-कमल भी दिन बिना खिलता नहीं"। वे ग्वाल

बनकर पेट पाले या विद्यार्थी बनकर ज्ञान-पिपासा शान्त करें। भारतीय किसान क्या करे—

संप्रति कहाँ क्या हो रहा है, कुछ न उनको ज्ञान है,
है वायु कैसी चल रही इसका न कुछ भी ध्यान है।
मानो भुवन से भिन्न उनका दूसरा ही लोक है,
शशि-सूर्य हैं, फिर भी कहीं उनमें नहीं आलोक है।
(भारत-भारती, पृ.-102)

गुप्त जी के किसान के लिए वर्ष के बारह महीने एक समान हैं। उनके जीवन में सामान्य रूप से विषाद है, हँसना-गाना तो दुर्लभ बात है। पर वे निश्छल हैं और फाग का राग धूम मचाकर गाते हैं। भारतीय किसान चित्त की खिन्नता को स्थायी रूप में कैसे दूर करें ? गुप्त जी उद्विग्न होकर साम्राज्यवादी शासको पर बरस पड़ते है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'भारत-भारती' के कवि ने खुले मन से भारतीय किसान की दयनीयता, निरीहता और निश्छलता का आकलन किया है। कही कोई पूर्वाग्रह नहीं, अतिशयोक्ति नहीं। गुप्त जी दिखाते हैं कि एक ओर जहाँ साम्राज्य-वादियों और उनके चाकर मध्यवर्गीय बाबुओं के लिए शहरों में और सात समुद्र पार भी 'मार्केट' हैं, वहीं दूसरी ओर भारतीय किसान के लिए गाँव का हाट ही कलकत्ते का बड़ा बाजार है। एक ओर अंग्रेज़ और उनके दुमछल्ले विदेशों से लाखो का माल आयात करते हैं, वहीं दूसरी ओर किसान की अकिंचनता इतनी बढ़ गई है कि उसके लिए गुड़ और नमक भी मुहाल है। एक ओर साम्राज्यवादी चिन्तक सामाजिक आर्थिक विषमता को अनदेखा कर गरीब जनता के सामने आध्यात्मिकता का ढोंग रचा रहे हैं, निठल्ले दार्शनिक हो रहे हैं और ईश्वर के अस्तित्व को लेकर बहस करते रहते हैं, दूसरी ओर किसान भूत-प्रेत, जादू-टोना और विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों से जूझ रहे हैं। वे कभी-कभी प्रदर्शनी की कौतुक भरी सैर करके और ग्राम्य मेले देखकर ही खुद को धन्य मान लेते हैं। उनके लिए मनिहार की दुकान ही बड़ी उपलब्धि है। गुप्त जी 'भारत-भारती' में किसान-संवेदना को प्रभावशाली रूप देने के लिए आलोचनात्मक यथार्थवाद की शैली अपनाते है–

हा दैव ! इस ऋषि भूमि का यह आज कैसा हाल है ?
तू काल ! सचमुच काल है ? तू क्रूर और कराल है।
(भारत-भारती, पृ.-103)

कहना अनावश्यक है कि 'भारत-भारती' में गुप्त जी ने वैष्णव होने के बावजूद नवयुग की गतिशील वास्तविकता का निष्कपट साक्षात्कार किया। इस उदार भावना

का व्यवस्थित प्रतिफलन उनके 'किसान' खण्ड काव्य में मिलता है। 'भारत-भारती' में किसान जीवन के प्रति सहानुभूति का जो बीज मौजूद है, वही 'किसान' में फल-फूलवाला विशाल करुणा-वृक्ष बन गया है। यह कोई साधारण उपलब्धि नहीं है।

गुप्त जी का युग दयानन्द के उपदेशो से अनुप्राणित युग था। हिन्दी कविता मे तब नैतिकता और चरित्र की शुद्धता पर बल दिया जाता था। स्वयं गुप्त जी द्विवेदी युगीन नैतिकता और चरित्रोत्कर्ष के सफल संवाहक थे। ऐसे में, उनका 'किसान' थोड़ा चकित और स्तब्ध करता है। गुप्त जी की इस कृति का वास्तविक महत्त्व रामनरेश त्रिपाठी के कल्पनाजन्य कथानकों पर आधारित खण्ड काव्यों 'मिलन', 'स्वप्न' और पथिक' 'की तुलना में कही अधिक है। यह गुप्त जी की कविता-यात्रा में भी उन्हीं की बनायी लीक से हटकर है। डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं–

"कविता में कहानी कहने की कला 'किसान' नामक छोटे-से खण्ड काव्य मे दिखायी पडती है, पहले से कुछ अधिक विकसित रूप में। किसान की भाषा भी बहुत कुछ गद्यात्मक ही है पर कथा कहने के क्रम में बोलचाल की भंगिमा से भर उठती है और ऐसा लगता है जैसे यह भाषा कथा कहने के लिए ही विशेष रूप से रची गई है।... किसान जीवन की कथा कहने के लिए गुप्त जी ने आल्हा से मिलता-जुलता छन्द चुना है। लगता है, कथानायक किसान ने कवि को गॉव की चौपाल में पहुँचा दिया है और वह अपनों के बीच पहुँचकर उन्हीं के लहजे में कहानी कहने के लिए बाध्य हो गया। लक्ष्यीभूत श्रोता द्वारा रचनाकार और रचना में किस तरह रूपान्तरण हो जाता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त का किसान है।"

'किसान' पौराणिक-ऐतिहासिक इतिवृत्त का निषेध कर हिन्दी प्रबन्धाख्यान के क्षेत्र मे एक नया प्रयोग है। इसमें आठ सर्ग है, जिनका नामकरण कवि ने केन्द्रीय घटनाओं और चरित्रों को ध्यान में रखकर किया है। कदाचित 'कामायनी' से भी पूर्व सर्गों के नामकरण का यह दृष्टान्त अपना उपमान आप है । 'प्रार्थना', 'बाल्य और विवाह', 'गार्हस्थ्य', 'सर्वस्वान्त', 'देश-त्याग', 'फिजी', 'प्रत्यावर्तन', और 'अन्त' शीर्षकों के अन्तर्गत 'किसान' का आत्मचरितात्मक आख्यान प्रस्तुत किया गया है। 'प्रार्थना' के आरंभिक अंश को यदि 'मंगलाचरण' मानें तो यह भी बिल्कुल नए ढंग का है–

यद्यपि हम हैं सिद्ध न सुकृती, व्रती न योगी,
फिर किस अघ से हुए हाय ! ऐसे दुःख भोगी ?
क्यों हैं हम यों विवश, अकिंचन, दुर्बल, रोगी ?
दया-धाम हे राम ! दया क्या इधर न होगी ?

देव ! तुम्हारे सिवा आज हम किसे पुकारें ?
तुम्ही बता दो हमें कि कैसे धीरज धारें ?
किस प्रकार अब और मरे मन को हम मारें ?
अब तो रुकती नही ऑसुओं की ये धारें।
(किसान, पृ-9)

'किसान' की कथा-वस्तु प्रशस्त हे, पर संक्षेप मे स्थितियॉ 'भारत-भारती' के वर्तमान खण्ड मे वर्णित आरंभिक विवेचन के मेल में हैं। फिर भी यह कहना सही लगता है कि 'भारत-भारती' मे किसान-संबन्धी विवेचन का सिद्धान्त पक्ष हैं और किसान खण्ड काव्य में उसका व्यवहार पक्ष। यहॉ सामान्य सहृदय के करुणा-विगलित होने का अवसर अधिक है।

'प्रार्थना' सर्ग न प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि मे भारतीय किसान की दुर्दशा का वर्णन है। किसानों की दशा कुत्ते और बैलों से भी हीनतर है। गुप्त जी का किसान सोचता है कि वह आदमी की जगह बैल ही होता तो अच्छा था। कम से कम काम करके घर लौटने पर उसे भरपेट भोजन तो मिलता। यदि वह कुत्ता होता तो भी अच्छा था, दग्धोदर की शान्ति वह इधर-उधर से कर लेता।

दूसरे सर्ग 'बाल्य और विवाह' से ही 'किसान' की कथा आरंभ होती है। इस सर्ग मे किसान के कैशोर और यौवन की तरगों का मनोहारी वर्णन किया गया है। एक तरह से यह 'किसान' के नायक की 'वीरगाथा' है।

'सर्वस्वान्त' में गुप्त जी किसान के हृदय का हाहाकार अंकित करते हैं। माता-पिता की मृत्यु, फसल का नष्ट हो जाना, तत्पश्चात साह, महाजन और जमींदार का वात, पित्त और कफ का सन्निपात बनकर आना ब्योरेवार वर्णित है। किसान की शोषण-प्रक्रिया में अग्रेजी राज की पुलिस कदम-कदम पर हाजिर है। अन्ततः किसान की सारी सपत्ति कुर्क हो जाती है। राष्ट्रकवि ने इसमें न्यायपालिका की भी खबर ली है। उनका किसान आवेश के अधीन एक बार लुटेरा बनने का संकल्प करता है–

बोला वह अब हैं स्वतन्त्र दोनों जने–
मैं हूँ शिव, तू शक्ति देश मरघट बने।
नहीं, नहीं, शिव नहीं बनूंगा रुद्र मैं,
जानेंगे सब लोग–नहीं हूँ क्षुद्र मैं।
पुलिस मुझे थी व्यर्थ लुटेरा कह रही,
देखे अब वह शीर्घ् कि हॉ, मैं हूँ वही।
(किसान, पृ. 31)

किन्तु कुलवन्ती (किसान पत्नी) के समझाने पर वह उसका मार्ग-दर्शन

स्वीकार कर लेता है और बेगारी से बचने के लिए देश-त्याग करना स्वीकार कर लेता है।

देश-त्याग करने का संकल्प किसान दंपति के लिए बहुत त्रासद साबित होता है। वे अंग्रेज़ बहादुर के एजेण्ट द्वारा बहकाकर 'डिपो' ले जाए जाते हैं, जहाँ से आराकाटी उन्हें फिजी के लिए जहाज़ पर डलवा देता है। किसान को प्रतीत होता है, मानो वह दलदल से निकलकर अनल-कुण्ड में जा गिरा हो। समुद्र के गर्भ में यात्रा करते समय किसान को अपना देश, यहाँ की जलवायु और प्रकृति बहुत याद आते हैं। अपनी जन्मभूमि आर्यभूमि का प्रतिपल स्मरण करते हुए किसान दंपत्ति बिल्कुल पशु या ढोर की शक्ल में फिजी पहुँचाए जाते हैं। जहाज़ पर उन्हें भंगी का काम भी करना पड़ता है । फिजी पहुँचने पर किसान के दुखों में और अधिक वृद्धि होती है। वहाँ उसे कुत्ते से भी घटिया जीवन व्यतीत करना पड़ता है। रोटियाँ गिनकर और पानी तौलकर उसे दिया जाता है। किसान के साथ गये बहुत से अभागे भारतीय जहाज़ में ही प्रभु को प्यारे हो जाते हैं। साहब बहादुर की गालियाँ खाकर और आँसू पीकर बध्य पशु की भांति जो अर्द्धमृत-से जीवित बचे, उन्हें फिजी कैदियों की तरह काल कोठरी में डाल दिया गया। कुलवन्ती का रो-रोकर बुरा हाल था। उधर किसान सोच रहा था–

देव ! ला पटका कहाँ, हा। हम कहाँ भारत कहाँ,
जन्म पाया था वहाँ आए तथा मरने यहाँ
(किसान, पृ-39)

फिजी में किसान अपने अन्य देशवासियों के साथ बहुत दयनीय स्थिति में रहता है। राष्ट्रकवि ने कुली-प्रथा की अमानवीयता की बहुत प्रामाणिक अभिव्यक्ति की है। अंग्रेज़ बहादुरों के अत्याचारों से ऊबकर कैसे मजदूर अपने गले में फाँसी लगा लेते हैं, स्त्रियाँ सतीत्व-रक्षा के लिए पानी में कूद कर आत्महत्या कर लेती हैं, इसका भीतर से हिला देनेवाला दृश्यालेख इस सर्ग में मिलता है। स्वयं किसान-पत्नी से अंग्रेज़ ओवरसियर बलात्कार करना चाहता है, परन्तु उसे इस अकार्य में सफलता नहीं मिलती। कुलवन्ती अपने शील की रक्षा में सफल होती है, पर उसे इसके लिए मृत्यु का वरण करना पड़ता है। वह जाते-जाते किसान को आश्वस्त करती है–

सती गर्भिणी अबला का वध वृथा नहीं जाएगा,
डूब जाएगा वह उसमें ही तैर नहीं पाएगा।
यही नहीं, यह कुली-प्रथा भी उसमें बह जाएगी,
भावी भारत में बस उसकी स्मृति ही रह जाएगी।
(किसान, पृ.-44)

'प्रत्यावर्तन' सर्ग में दिखाया गया है कि कुली-प्रथा समाप्त हो गई है। एण्ड्यूज और पियर्सन के मनुजोचित मंगल मनस्काम से अनुप्राणित रिपोर्ट पढ़कर लार्ड हार्डिंज कुली-प्रथा को खत्म कर देते हैं। कुलवन्ती की स्मृति हृदय में बसाये किसान अपने देश भारत लौटता है। राह में वह सोचता है - अपने देश के बारे में--

पाता हूँ जग में कहीं न तेरी समता,
होती विदेश में ही स्वदेश पर ममता।
तुझमें अब भी कुल-रीति-नीति है मेरी,
इस कारण तुझ पर धरा प्रीति है मेरी

(किसान, पृ.-49)

किसान भारत लौटकर शाहेवक्त के एहसानों का बदला चुकाने के लिए फौज में भर्ती हो जाता है और 'टिगरिस' पहुँचकर रण में अचेत हो जाता है। चेतन अवस्था में वह अपनी छाती पर विक्टोरिया क्रास झूलता पाता है।

इस प्रकार देखा जाए तो मैथिलीशरण गुप्त ने भारतीय किसान और उत्पादक वर्ग को आधार बनाकर जो काव्य लिखा है, उससे हिन्दी कविता में यथार्थवाद का सूत्रपात होता है। आगे चलकर प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में और प्रगतिशील कवियों के काव्य में किसान-मजदूर जीवन को केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ, किन्तु खासतौर से कविता में, इस सन्दर्भ में विषय-प्रवर्त्तन हमारे राष्ट्रकवि ने ही किया।

7

जातीय संवेदना और प्रमुख नारी-चरित्र

मैथिलीशरण गुप्त के कवि-कर्म को हमारे लिए प्रासंगिक बनाने का सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य उनकी काव्य-नायिकाएँ करती हैं। उनकी जातीय संवेदना में भारतीय नारी हमेशा ही चिन्ता का मुख्य विषय बनी रही । गुप्त जी ने उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया, विधृता जैसी अनेक नारियों को अपनी जातीय संवेदना के केन्द्र में रखा। यह इसलिए कि उनकी राष्ट्रीयता इकहरी नहीं थी। जातीय संवेदना के विकसनशील स्वरूप में गुप्त जी भारतीय नारी की दुर्दशा से अपनी काव्य-दृष्टि हटा नहीं सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो शायद हमारे सर्वमान्य असन्दिग्ध राष्ट्रकवि नहीं होते। अवश्य अपनी नारी-भावना को उदात्त-भव्य अभिव्यक्ति देने के लिए गुप्त जी को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का आभार मानना चाहिए। यह सर्वविदित है कि द्विवेदी जी के प्रसिद्ध लेख 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' से प्रेरित-अनुप्राणित होकर ही गुप्त जी ने 'साकेत', 'यशोधरा' जैसी कालजयी कृतियों की रचना की थी। प्रसंगवश, यह भी उल्लेखनीय है कि द्विवेदी को उक्त लेख की रचना-प्रेरणा रवीन्द्रनाथ के एक निबन्ध– 'काव्य की उपक्षिताएँ' से मिली थी। अपने युगान्तकारी निबन्ध में विश्वकवि ने लिखा था–

"कवियों ने कल्पना-स्रोत का सब करुणा-जल केवल जनक-तनया के पुण्य अभिषेक में लगा दिया। लेकिन एक और भी ज्वालामुखी सब ऐहिक सुखों से वंचित रागवधू जो सीतादेवी की छाया के नीचे घूँघट डाले खड़ी है, कवि के कमण्डल से एक बूँद अभिषेक जल भी क्यों उसके चिर-दुःख तप्त नम्र ललाट पर नहीं पड़ा ! हाय अव्यक्त वेदना देवी उर्मिला, तुम भोर के तारे के समान महाकाव्य के सुमेरु-शिखर पर केवल एक बार उदित हुई थीं और फिर कभी अरुणालोक में दिखाई नहीं पड़ीं। तुम्हारा उदयाचल कहाँ है और कहाँ है तुम्हारा रजत-शिखर यह पूछना भी सब लोग भूल गये।"

इस निबन्ध में रवीन्द्रनाथ आगे लिखते हैं-

"काव्य-संसार में ऐसी दो-एक रमणियाँ हैं, जो कवियों के द्वारा पूर्णतया उपेक्षित होकर भी अमरलोक में भ्रष्ट नहीं हुई हैं। पक्षपात-कृपण काव्य ने उनको

स्थान नहीं दिया, शायद इसीलिए पाठकों के हृदय ने आगे बढकर उन्हें आसन दिया। लेकिन इन सब परित्यक्ताओं में किसे कौन हृदय में आसन देगा, यह पाठक विशेष की प्रकृति और अभिरुचि पर निर्भर है। मै कह सकता हूँ कि संस्कृत साहित्य में काव्य-यज्ञशाला के एक किनारे पर खड़ी हुई जिन कुछ अनादृताओं से मेरा परिचय हुआ है, उनमें उर्मिला को प्रमुख स्थान देना चाहिए। (अनुवादक : अमृत राय, रवीन्द्रनाथ के निबन्ध-भाग-2, पृ.-410)

रवीन्द्रनाथ ने अपने निबन्ध में उर्मिला के साथ-साथ प्रियंवदा, अनुसूया और पत्रलेखा की भी चर्चा की है। उन्हें भी काव्य की उपेक्षिताओं में स्थान दिया है। उनसे अनुप्राणित होकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विशेष रूप से उर्मिला पर ही ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने उर्मिला की उपेक्षा के लिए आदिकवि वाल्मीकि के साथ-साथ तुलसीदास और भवभूति को भी कठघरे में खडा किया है। द्विवेदी जी लिखते हैं–

"कवि स्वभाव से ही उच्छृंखल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गये, झुक गये। जी में आया तो राई को पर्वत कर दिया; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आँख उठाकर न देखा। यह उच्छृंखलता या उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में तो देखी ही जाती है, आदिकवि तक इससे न बचे। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी का निषाद द्वारा वध किया गया देख जिस कवि-शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया और जिसके मुख से 'मा निषाद' इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पडी, वह परदुःखकातर मुनि रामायण-निर्माण करते समय एक नव परिणीता दुक्खिनी वधू को बिल्कुल ही भूल गया। विपत्ति-विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरासमवेदना तक उसने प्रकट न की, उसकी ख़बर तक न ली।" (रसज्ञ रंजन, पृ.-92)

द्विवेदी जी के मत में उर्मिला के विषय में तुलसीदास जी ने भी अन्याय किया है। उन्होंने उर्मिला-प्रसंग में 'आदि कवि का ही अनुसरण किया है। 'नानापुराण निगमागमसम्मतं' रामचरित मानस लिखने का संकल्प लेनेवाले कवि को इस विषय में स्वतन्त्र होकर सोचना चाहिए था, परन्तु उर्मिला के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया।

'हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ किया है। राम लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर उर्मिला को देखकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा– 'इदमप्यराका' अर्थात लक्ष्मण यह कौन है ?' द्विवेदी जी लिखते हैं- "सीता का इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं है। इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गये। वे कुछ लज्जित होकर मन ही मन कहने लगे-उर्मिला को सीता देवी पूछ रही

हैं। उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया।" द्विवेदी जी अपने निबन्ध का अन्त इस वाक्य से करते हैं–"यह कैसे खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों के द्वारा भी आज तक इसी प्रकार ढँकता आया।" (रसज्ञ-रंजन पृ.-96)

गुप्त जी ने द्विवेदी जी के विचारों से प्रेरित-अनुप्राणित होकर उर्मिला के ढँके हुए चरित्र-चित्र को मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति दी 'साकेत' में। आचार्य शुक्ल भी स्वीकार करते हैं कि 'साकेत की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई है कि उर्मिला काव्य की उपेक्षिता न रह जाय। पूरे दो सर्ग (9 और 10) उसके वियोग-वर्णन में हीं खप गये हैं। इस वियोग-वर्णन के भीतर कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक चमत्कार-पूर्ण पद्य तथा आजकल की नई रंगत की वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्यवाले गीत दोनों रखे हैं।... दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अन्तर्वृत्तियों का विस्तार है जिनके बीच-बीच में अत्यन्त उच्च भावों की व्यंजना है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-417)

इसमें सन्देह नहीं कि गुप्त जी ने उर्मिला का चरित्र-चित्र पूरे मनोयोग से बनाया है। इसीलिए उर्मिला का वियोग-वर्णन विवरण की पुरानी परिपाटी को त्यागकर प्रगीतात्मक हो गया है। विशेषतः 'साकेत' का नवम सर्ग एक तरह से प्रगीतों का ही संग्रह है जिसमें उर्मिला की विरह-वेदना का चित्रण परम्परा और नवीनता के सामंजस्य का उदाहरण है। यह गुप्त जी की कवि-प्रतिभा का उत्कर्ष भी दिखाता है। पारम्परिक शैली में गुप्त जी ने उर्मिला के विरह-ताप, विरहजन्य-कृशता और अश्रु-प्रवाह आदि का वर्णन किया है। साथ ही, षड् ऋतुवर्णन और अन्य वियोग-दशाओं का भी समावेश किया है। ऐसा करते हुए गुप्त जी की विशेषता यह है कि वे तर्क और वैज्ञानिकता को कहीं शिथिल नहीं होने देते। उन्होंने रीतिकाल के बिहारी आदि की तरह विप्रलंभ का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया है।

लक्ष्मण चौदह वर्षों के लिए वन जाते हैं, इस बीच उर्मिला पूरी तरह निरवलम्ब थी। इतनी लम्बी अवधि के वियोग को बैठे-ठाले चित्रित करना स्वाभाविक नहीं होता। इसीलिए श्री विश्वंभर मानव की शब्दावली में गुप्त जी ने 'वर्षों को एक वर्ष में, उस वर्ष की ऋतुओं में विभाजित कर दिया है और वे मानकर चले हैं कि जैसा एक दिन वैसे सभी दिन, जैसी किसी एक वर्ष की ऋतु, वैसे ही किसी दूसरे वर्ष की भी।' बात यह है कि गुप्त जी आधुनिक युग के कवि हैं और उन्होंने 'साकेत' की रचना विरह-वर्णन के सीमित उद्देश्य को ध्यान में रखकर नहीं की है। इसमें उन्हें उर्मिला को समग्रता में व्यक्त होने का अवसर देना था। यह अवसर उसे मिला भी है। यही कारण है कि 'साकेत' के बारह सर्गों में से प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, नवम, दशम तथा द्वादश-सात सर्गों में किसी न किसी रूप में

लक्ष्मण-उर्मिला प्रसंग आया है। इन सर्गों में उर्मिला का व्यक्तित्व निखर गया है। वह अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। आरंभ में उसका परिचय गुप्त जी इस प्रकार देते हैं–

अरूण पट पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में
प्रकट मूर्त्तिमती उषा ही तो नहीं ?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं,
यह संजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला।
(साकेत, पृ-19)

इसके बाद गुप्तजी उर्मिला का सौन्दर्य-चित्रण भी पूरी तत्परता से करते हैं। 'साकेत' के कथा-प्रसार में उर्मिला के व्यक्तित्व का समग्र आ गया है। आरंभ के इस दृश्य में उसका आविर्भाव होता है और बारहवें सर्ग में जब लक्ष्मण लौटते हैं तब गुप्त जी ने उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन को विश्व-विरह-मिलन में पर्यवसित कर दिया है–

देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी ?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी !
लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।"
(साकेत, पृ-334)

आरम्भ और अन्त के इन दृश्यों के बीच उर्मिला के अनेक रूप हैं। यह सही है कि 'साकेत' की उर्मिला बहुत रोती है, परन्तु यह क्या कम बड़ी उपलब्धि है कि वह केवल रोती ही नहीं है–

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप।।

उर्मिला सती नारी है, 'आरती' उसके समर्पण को प्रतीकित करती है और पूरा रूपक उसके तिल-तिलकर नये रूप में ढलने की सूचना देता है। गुप्त जी ने उर्मिला को सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति दी है, यह सच है। वह एक स्वर्गिक सुमन है, जो धरती पर खिला है–

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम है उसका उचित ही उर्मिला

गुप्त जी की उर्मिला नवयुग की भारतीय नारी है । वह वियोग की असह्य वेदना को स्वयं स्वीकारती है। गुप्त जी ने उसकी वेदना को अत्यन्त प्रभावशाली अभिव्यक्ति दी है, इन दो पंक्तियों में–

अवधि शिला का उर पर था गुरूभार।
तिल-तिल काट रही थी दृग जल ढार।।
(साकेत, पृ.-248)

चौदह वर्षों तक उसे पति से अलग रहना होगा, इस वेदना-बोध के बावजूद उर्मिला लक्ष्मण के राम और सीता के साथ वन जाते समय अपने मन को समझाती है–'तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।' गुप्त जी उर्मिला को आधुनिकता के संस्पर्श से सर्वथा वंचित नहीं होने देते। उसमें लक्ष्मण-वियोग का दुःख है, पर पति के कर्त्तव्य-पथ में वह किसी तरह भी बाधा नहीं बन सकती। यह नया स्वर है–

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी
मैं बाँध न लूँगी, तुम्हें तजो भय भारी।

गुप्त जी ने 'साकेत' के नवम सर्ग में उसके चरित्रोत्कर्ष की अपनी मूल प्रतिज्ञा को निबाहा है। यहाँ काव्य-सौन्दर्य उर्मिला-विरह की मार्मिकता और मनोवैज्ञानिकता के साथ है। उर्मिला अन्तःपुर में भी तपस्विनी की भाँति है। लक्ष्मण से उसकी तपस्या किसी भाँति हीनतर नहीं। उर्मिला की चरित्र-योजना में गुप्त जी की कवि-प्रतिभा सहस्र दल खिली है। इस सन्दर्भ में, उनके भीतर कोमल भाव हिलोरें लेते हैं। उर्मिला पति से दूर रहकर भी उसी के स्मृति-पाश में बँधी है। वह स्वयं बँधी है, पर वियोग-दशा में चाहती है कि पशु-पक्षी तक भी मुक्त रहे। प्रकृति के प्रति वह उदारता का परिचय देती है। गुप्त जी ने उर्मिला को एक सुसंस्कृत नारी के रूप में चित्रित किया है। एक ऐसी नारी जो पत्नी या प्रेयसी-मात्र नहीं होती। उर्मिला विचार कर सकती है। प्रेम और प्रकृति, व्यक्ति और परिवार, राजा और प्रजा, युद्ध और कला के संबन्ध में गुप्त जी ने उर्मिला के द्वारा अपने विचार प्रकट किये हैं। उसके विचारों के वे अंश मार्मिक हैं, जहाँ मोह और मर्यादा में टकराव होने पर भी आदर्श के पक्ष में निर्णय होता है। नवम सर्ग के आरंभ में ही गुप्त जी स्थापना करते हैं–

दो वंशों में प्रकट करके, पावनी लोक-लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला,
त्यागी भी है शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा-योगी जय जनक वे पुण्य देही विदेही।
(साकेत, पृ.-194)

इसमें 'पूतशीला' और 'विदेही' का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। पूतशीला के अर्थ

हैं पवित्र शील वाली और पुत्रों के समान शील वाली। उर्मिला ऐसी नारी है, जिससे राजा जनक और दशरथ दोनों के वश का यश और गौरव बढ़ गया है।

गुप्त जी उर्मिला का चरित्र-चित्र पाकर स्वयं भी गौरव का अनुभव करते हैं–

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से ,
और पाकर ताय उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से-
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके ही विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कवि-जनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के।
(साकेत, पृ.-195)

गुप्त जी उर्मिला को अपनी वैष्णव भावनाओं में बडी ऊँची जगह देते हैं। रामभक्त कवि ने उर्मिला को निरन्तर संघर्षशील गतिशील दिखाया है। उसका संघर्ष इकहरा नहीं है। वह जितना बाहर से दिखाई पड़नेवाला संघर्ष है, उतना ही भीतर भी उसका फैलाव है। उर्मिला के मनोगत संघर्ष को नवम सर्ग में कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है, जबकि बाहर का संघर्ष बाद के प्रसंगों में दिखाया गया है। गुप्त जी ने युद्ध में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर, भरत द्वारा सेना सजाने के समय उर्मिला का वीरांगना-रूप चित्रित किया है। वह युद्ध के लिए तत्पर होती है—

ठहरो यह मैं चलूँ, कीर्ति–सी आगे-आगे,
भोगें अपने विषम कर्म फल अधम अभागे।

साकेतवासी जब उसे समझाते हैं, तब उसका वीरत्व-व्यंजक स्वर और अधिक प्रभावशाली होता है–

वीरों का यह योग भला क्यों खोऊँगी मैं,
अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं,
पानी दूँगी तुम्हें न पल भर सोऊँगी मैं
गा अपनों की विजय परों पर रोऊँगी मैं।

संक्षेप में, गुप्त जी ने एक मर्यादा के भीतर उर्मिला को अन्तःपुर से बाहर निकाला है। उर्मिला एक ऐसी नारी-प्रतिमा है जो अपने त्याग और पवित्र प्रेम के बल पर अविस्मरणीय चरित्र बन गई है। गुप्त जी से पहले रामकथा में उसे एक पात्र के रूप में रखा गया था। गुप्त जी ने पहली बार उर्मिला को पात्र से 'चरित्र' में विकसित कर दिया है। ऐसे में, डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु का यह कथन कि "रामायणकार ने रामायण की जो रूपरेखा रखी और उसके भीतर उर्मिला को स्थान दिया, उससे अधिक मैथिलीशरण 'गुप्त भी उसे न दे सके" सही नहीं माना जा सकता। उर्मिला की चरित्र-योजना आदर्श और यथार्थ के समानुपात से ही

प्रभावशाली बन सकी है गुप्त जी की कला इस प्रयास में शिखर-स्पर्श करती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

* * * *

'साकेत' के बाद काव्य की उपेक्षिताओं के सन्दर्भ में 'यशोधरा' मैथिलीशरण गुप्त का समर्थ प्रयोग है। जिस प्रकार हमारे जातीय कवियों ने उर्मिला की उपेक्षा की थी, उसी प्रकार यशोधरा की भी। राम और गौतम बुद्ध का यशः गान करनेवाली कृतियाँ सहज ही मिल जायेंगी पर 'उर्मिला' और 'यशोधरा' के व्यक्तित्व को पहली बार गुप्त जी ने ही रचनात्मक प्रतिष्ठा दी। 'यशोधरा' के प्रथम पृष्ठ पर ही गुप्त जी ने लिखा–

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

इससे यह भ्रम होता है कि गुप्त जी नारी की नियति रोना मानते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। गुप्त जी ऐसी नारियों को अपने प्रबन्ध काव्य की नायिका बनाते हैं, जो मानिनी हैं और स्वाभिमानी भी। ये नारियाँ इस बात के लिए खेद प्रकट करती हैं कि उनके पति जो पुरुष-वर्ग के प्रतिनिधि हैं, उन्हें समझते क्यों नहीं ? उर्मिला ने अपने पति लक्ष्मण को बिना किसी व्यवधान के वन जाने दिया। वह पति के कर्त्तव्य-मार्ग की बाधा नहीं बनी। 'यशोधरा' को भी अवसर मिलता तो वह ऐसा ही करती—

सिद्धि-हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

* * *

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती है रण में,
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

यशोधरा की मुख्य वेदना यही है और इस कारण ही उसका व्यक्तित्व जाज्वल्यमान देदीप्यमान हो उठा है। गुप्त जी स्वीकार करते हैं कि 'यशोधरा' की रचना-प्रेरणा के मूल में 'साकेत' की उर्मिला देवी ही हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर उन्हें संकेत किया है।

'हाय ! यहाँ भी वही उदासीनता ! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश–विदेश के कितने ही कवि-कोविदो ने गाया है–परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र-सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि–

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।

(यशोधरा, पृ.5)

यह सही है कि 'यशोधरा' लिखने की प्रेरणा के मूल में 'साकेत' की उर्मिला देवी हैं, किन्तु देखा जाय तो उर्मिला की तुलना में यशोधरा की वेदना अधिक त्रासकारी है। उर्मिला के लक्ष्मण तो चौदह वर्षों के लिए ही वन गये थे। उनकी वीरता, शूरता को ध्यान में रखकर यह निश्चित ही था कि चौदह वर्षो के बाद वे लौट आयेंगे। 'यशोधरा' के गौतम कब लोटेंगे, लौटेंगे भी या नही, निश्चित नही था। अर्थात पति का वियोग अनन्त काल के लिए था। पर 'यशोधरा' इस निरवधि दुःख के ताप से निखर उठती है। उसके व्यक्तित्व की एक खास बात है–उसका 'राहुल-जननी' होना। जिस प्रकार 'साकेत' में पति को वन में भेजकर उर्मिला अन्तःपुर में ही तप करती है उसी प्रकार यशोधरा भी अन्तःपुर में सिद्धार्थ का अनुसरण करती है। वह अपने सिर के बाल उसी प्रकार काट डालती है, जिस प्रकार सिद्धार्थ ने सन्यास लेते समय अपने बाल काट डाले थे। छन्दक से सूचना पाकर कि–

'हाय ! काट डाले वे केश
चिकने-चुपड़े, कोमल, सच्चे सुरभि निदेश'

यशोधरा भी तापसी का वेश धारण करती है–

'जाओ मेरे सिर के बाल !
आलि कर्तरी ला, मैंने क्या पाले व्याल ?

* * *

चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहे चिरकाल।
मेरी मलिन गुदड़ी में भी है राहुल-सा लाल।

* * *

बस सिन्दूर बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल,
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल।

इस सम्बन्ध में, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की प्रतिक्रिया है–
'यशोधरा' के 'जाओ मेरे सिर के बाल' पद को अनिवार्य समझ कर देखता हूँ, गुप्त जी ने उस निष्ठावती युवती राजमहिषी को मुण्डित किया और अन्यत्र उसे काषाय वस्त्र पहने और गैरिक दुकूलिनी भी चित्रित किया है.... प्रोषितपतिका का ऐसा

विन्यास कही देखने मे नही आया ... ऐसी अचला यशोधरा विलक्षण प्रेरणा से शास्त्र और लोक की परम्परा को त्यागकर ऐसा अशोभन वेश धारण करेगी, मै नहीं समझ सका।"

इसके जवाब मे गुप्त जी का विचार है–

"पति के आचरण के अनुगमन की एकान्त निष्ठा भी उसमे है। यशोधरा मानिनी और रूपगर्विता सब कुछ थी, परन्तु वह पतिव्रता भी सच्चे अर्थ में थी। पति का व्रत यदि उसने धारण किया और यदि उसके लिए वह व्यक्त रूप मे लीक से बाहर भी चली गई तो कदाचित इसी भाव से कि 'यदि लीक धरे न मैं रही मुझको लीक धरे, यही सही'... परन्तु चाहे जिस कारण हो, बौद्ध साहित्य में उसके सबन्ध में भी यही लिखा है... उसमे हल्की कोटि का ही सही, आप नाटकीय प्रभाव तो बता रहे हैं.... प्रभाव तो नहीं प्रवेश-सा मुझे भी जान पड़ता है।" (डॉ. कला कपूर के लेख 'ऑचल में दूध और ऑखों में पानी' से साभार उद्धृत, महाराष्ट्र मानस, पृ.-103-04)

गुप्त जी के उत्तर से बात स्पष्ट हो जाती है। वे हिन्दू स्त्री के जीवन की सार्थकता पति की अनुगामिनी बनने में मानते है, पर किसी भी स्थिति में वह लोक विरोधी नही होती। सहज सामाजिकता इस जातीय संवेदना की संरचना में पायी जाती है। यशोधरा संकल्प करती है–

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

* * *

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है ?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है।
मै भी नही अनाथ जगत मे, मेरा भी प्रभु पति है।
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय-भारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
(यशोधरा पृ.-43)

'यशोधरा' अपनी परीक्षा में पूरे अक पाकर उत्तीर्ण होती है। वह पतिव्रता है, सिद्धार्थ द्वारा सभी सुन्दरी बालाओं में सुन्दरतम मानी गई है, स्वभावत : मानिनी है और समय आने पर साबित कर देती है कि गौतम बुद्ध की सिद्धि में वह भी शामिल है। उसके व्यक्तित्व में 'राहुल-जननी' का दायित्व-निर्वाह एक शानदार अध्याय की तरह जुड़ा है। उसकी कठिन जीवन-नौका को राहुल अपनी क्रीडाओं

से गति देता है। 'राहुल-जननी' की स्थापना में गुप्त जी की करुणा अत्यधिक आवेगपूर्ण और बहुआयामी है।

अन्त में सिद्धि पाकर गौतमबुद्ध लौटते है। यशोधरा वही उन्हे मिलती है, जहाँ उसे निद्रामग्न छोड़कर वे गये थे। वे उससे आग्रह करते हैं—

मानिनी मान तजो लो, रह गई तुम्हारी बान।
दानिनी, आया स्वय द्वार पर तव तत्रभवान।

* * *

माना दुर्बल ही था गौतम छिपकर गया निदान।
किन्तु शुभ परिणाम भला ही हुआ, सुधा-सन्धान।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान;
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।

गुप्त जी यशोधरा के बहाने भारतीय नारी को उसके स्वाभाविक गुणों के बीच प्रतिष्ठिा देते हैं। यह वह नारी है जो पुरुष को कर्मण्यता सिखाती है, बाँधती नहीं, मुक्त करती है। बुद्धदेव कहते हैं—

'दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से,

वे यशोधरा से अपनी साधना का रहस्य कहते हैं। किस तरह जब वे सिद्धि-मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे, तब मार ने अप्सरियों को उनकी साधना भंग करने के लिए भेजा था, तब यशोधरा के धीर ध्यान ने ही उनको बचा लिया था। बुद्धदेव यशोधरा की प्रशस्ति गाते हैं—

बतलाऊँ मै क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा कर्म,
पाला है तुमने जिसे, वही वधू का धर्म।

'यशोधरा' काव्य का अन्त इन पंक्तियों से होता है—

तुम भिक्षुक बनकर आये थे गोपा क्या देती स्वामी ?
था अनुरूप एक राहुल ही रहे सदा वह अनुगामी।
मेरे दुःख में भरा विश्व-सुख, क्यों न भरूँ मैं हामी।
बुद्धं शरण, धम्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि।

'था अनुरूप एक राहुल ही रहे सदा वह अनुगामी' कहकर यशोधरा बुद्ध से भी ऊपर उठ जाती है। उसका त्याग स्वर्णाक्षरों में अंकित करने-योग्य है। गुप्त जी ने अपनी लेखनी से उसे अमर कर दिया है।

* * * *

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में नारी का क्या महत्व है, यह जानने के लिए

'साकेत' और 'यशोधरा' के साथ 'विष्णुप्रिया' का मूल्यांकन भी अपेक्षित है। इस कृति की रचना गुप्त जी ने नयी कविता आन्दोलन के दौर में की थी। इसकी रचना-प्रेरणा के सम्बन्ध में गुप्त जी ने 'विष्णुप्रिया' के निवेदन में लिखा है—

"देवी विष्णुप्रिया के प्रथम दर्शन मुझे दिल्ली में, वहाँ के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री जयदयालु जी डालमिया के अनुग्रह से प्राप्त हुए थे। एक प्रीति-सम्मेलन में मिलकर उन्होंने सहसा मुझसे कहा–'आपने उर्मिला पर लिखा है, यशोधरा भी लिखी है। मेरा प्रस्ताव है, श्री चैतन्यदेव महाप्रभु की गृहिणी विष्णुप्रिया पर भी आप अवश्य कुछ लिखिए।" डालमिया जी के प्रस्ताव से प्रेरणा पाकर गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन किया। 'श्रीअमिय निमाई चरित' और 'श्री चैतन्य चरितावली' जैसे ग्रन्थों के रचनाकारों के प्रति गुप्त जी आभार प्रकट करते है।

'विष्णुप्रिया' की विडम्बना भी 'यशोधरा' से मिलती-जुलती है। उसे भी निद्रामग्न छोड़ चैतन्य गृह-त्याग करते हैं। स्वप्न में मानो वे कह रहे हों–'नर क्या करेगा त्याग, करती है नारी ही/चाहोगी जब मुझे, समीप तुम पाओगी।' विष्णुप्रिया इसपर चौंककर उठती है और पाती है कि निमाई चले गये। उसकी आत्मा विलाप करने लगती है–

हाय ! मैं छली गई हूँ, छिपकर भागे वे
जागकर आप यहाँ मुझको सुला गये

'विष्णुप्रिया' का यह गीत अत्यन्त लोकप्रिय है—

'अबला' के भय से भाग गये; वे उससे भी निर्बल निकले
नारी निकले तो असती है नर यती कहाकर चल निकले।
(विष्णुप्रिया, पृ.-57)

एक अन्य गीत में ये पंक्तियाँ आती हैं–

जैसा तुम कहते थे स्वामी सचमुच मैं सुकुमारी,
सहने के ही लिए बनी है, सह तू दुखिया नारी।
(विष्णुप्रिया, पृ.-68)

'विष्णुप्रिया' सहती है और तपस्या की आँच में कुन्दन की तरह निखर कर सामने आती है। वह पति के वियोग को सास की भक्तिपूर्वक सेवा में पर्यवसित कर देती है। चैतन्य भी उसकी साधना, तपस्या से प्रभावित होकर कहते हैं—

स्थूल रूप से ही यदि चाहो तुम मुझको
मेरी एक मूर्ति रखो निज गृह कक्ष में

'विष्णुप्रिया' पति के आदेश का पालन करती है। यहाँ, प्रसंगवश 'विष्णुप्रिया' की एक घटना का मैं उल्लेख करँगा। विष्णुप्रिया को चैतन्य जब ब्याहकर घर लाते

हैं, तब गृह-प्रवेश के समय उसके पैरों में चौखट से ठोकर लग जाती है और रुधिर बहने लगता है। चैतन्य तत्क्षण विष्णुप्रिया के पैर को अपने पैर के अंगूठे से दबा देते हैं और इस तरह रुधिर-प्रवाह बाधित हो जाता है।

रुधिर-प्रवाह तो बाधित हुआ, किन्तु 'बढी दूनी अनुरक्तता'। विष्णुप्रिया देहली से सिर टेककर कहती है—

नाथ चरण से ब्रण न दबाते तो क्या रुकती धार ?
किन्तु इसी मिस नख से शिख तक गूँजे तनु के तार।

गुप्त जी भी यही कहते हैं। वे भारतीय नारी, उपेक्षिता नारी के दुखों की कथा कहते है। महापुरुषो के त्याग के पीछे छिपी नारी की वेदना को सामने लाते हैं। गुप्त जी इस प्रकार हमारी संस्कृति की कुण्डलिनी जगाने का प्रयास करते हैं। यह कुण्डलिनी नारी है, उसे जाग्रत तेज के रूप में प्रतिष्ठित कर गुप्त जी हमारी जातीय संवेदना को उर्ध्वमुखी बनाते हैं। नारी गुप्त जी की काव्य चेतना में केन्द्रीय स्थान पाती है, इसीलिए वे पुनः-पुनः उसकी व्यथा-कथा कहते है। उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया, विधृता से लेकर 'जयिनी' तक उनका मूल प्रतिपाद्य यही है—पुरुष की उपलब्धियों में अर्द्धांगिनी का साझा। गुप्त जी की स्त्री-संवेदना में काव्य की उपेक्षिताओं ने बडा ऊँचा स्थान पाया है। इस प्रसंग में सनातन स्मरणीय 'द्वापर' की वह 'विधृता' भी है जो समूचे गुप्त जी के काव्य मे स्त्रियों के बीच भी अलग स्थान रखती है। 'द्वापर' के 'निवेदन' में गुप्त जी लिखते हैं—

'श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तेईसवें अध्याय में एक कथा है। श्रीकृष्ण अपनी मण्डली के साथ वन में दूर निकल गये थे। वहाँ उनके बन्धुओं को भूख लगी। निकट ही एक स्थान पर यज्ञ हो रहा था। उन्होंने भोजन की प्राप्ति के लिए, उन्हे वहीं भेजा। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने उन्हें दुत्कार दिया। भगवान ने फिर भी उन्हें यज्ञशाला में भेजा। परन्तु इस बार पुरुषों के निकट नहीं, स्त्रियों के निकट। वहाँ उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। इसी कथा के अन्तर्गत एक कथा और है। एक ही श्लोक में वह कह दी गई है। एक ब्राह्मण ने बलपूर्वक अपनी वनिता को रोक लिया। नैवेद्य-समर्पण तो दूर, वह भगवान के दर्शन भी न पा सकी। इस दुःख से उसने शरीर छोड दिया। शुकदेव जी ने लिखा है–

तत्रैका विधृता भर्ता भगवन्तं यथाश्रुतम्
हृदोगुह्य विजहौ दहं कर्मानुबन्धनम्।"

(द्वापर पृ.-6)

गुप्त जी ने इसी घटना और चरित्र को द्वापर के एक सर्ग में पल्लवित किया है। इसमें उन्होने बडे मर्मस्पर्शी विचार व्यक्त किये हैं। विधृता स्त्रियों द्वारा अन्धभाव

से पति के अनुगमन की परम्परा को कठघरे में खड़ा करती है। वह पूछती है—

हाय ! वधू ने क्या नर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्न मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?

'विधृता' का वेदज्ञ पति इसका जबाव नहीं दे पाया। गुप्त जी की नारियाँ उनकी काव्य-कथाओं में अक्सर ऐसे सवाल करती हैं। इन सवालों में गुप्त जी का आधुनिकता-बोध मुखर हुआ है।

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं— "गुप्त जी की कृतियों में पारिवारिकता केन्द्रीय संवेदना के रूप में उभरती है" और "पारिवारिकता से ही संबद्ध उनकी नारी-भावना है। नारी परिवार की केन्द्रीय धुरी है। नई चेतना ने भारतीय नारी-जीवन की पीड़ा को पहचाना। नारी-भावना को पहचानने और उसका चित्रण करने में गुप्त जी हिन्दी काव्य के इतिहास में बेजोड़ हैं। (हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ.-91)

गुप्त जी के नारी-चरित्रों पर स्थितियों का जो प्रभाव पड़ता है उसके स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण होते हैं। गुप्त जी विवरण की भाषा में भी उनकी भाव संवलित प्रस्तुति करते है। उनके नारी-पात्र स्वाभिमानी, देशभक्त, कर्त्तव्यपरायण हैं और निजी वेदना को विश्व-वेदना में पर्यवसित कर देते हैं। इससे उनमें संश्लिष्टता आ जाती है और वे आधुनिक दृष्टि से भी स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। भारतीय नारी को उसके व्यक्तित्व की समग्रता में ग्रहण करने के कारण गुप्त जी की नायिकाओं की गरिमा बढ़ गई है। प्रेमिका, माता, बहन, विमाता, जेठानी, देवरानी विविध रूपों में नारी को गुप्त जी ने विषय बनाया है। इससे पारिवारिकता का समावेश उनके नारी चरित्रों में हुआ है। पर खास बात यह है कि गुप्त जी पूरी शालीनता से नारी की आत्म निर्भरता का स्वप्न देख पाते हैं। उन्होंने वर्ग-विभाजित समाज की वास्तविकता उजागर करने में विवरण से काम नही लिया है। किन्तु नारी अपने पूरे विन्यास में गुप्त जी के लिए दलित और शोषित ही है। गुप्त जी के काव्य में यही नारी आत्म-संघर्ष के साथ आयी है। यह प्रायः सुविधा-संपन्न घरों से आयी है, पर उसके व्यक्तित्व की आभा खुलती-खिलती है बाह्य जीवन के संघर्षों के बीच ही।

यह सच है कि समग्रता में गुप्त जी ने सुविधा-सपन्न वर्ग से ही नारी-चरित्र लिये हैं, परन्तु उनकी दृष्टि उन सामान्य स्त्रियों पर भी गई है जो उत्पादन के कार्य में लगी हैं। विशेषतः कृषक स्त्रियों को देखकर राष्ट्रकवि का दुःख बढ़ गया है—

नारी सुलभ सुकुमारता उनमें नहीं है नाम को,
वे कर्कशांगी क्यों न हों, देखो न उनके काम को।
गोबर उठातीं, थापती हैं, भोगती आयास वे,
कृषि काटती, लेतीं परोहे, खोदती हैं घास वे

* * *

कुछ रात रहते जागकर चक्की चलाने बैठती
हम सच कहेंगे, उस समय वे गीत गाने बैठतीं।
पर क्या कहें उस गीत से क्या लाभ पाने बैठतीं
वे सुख बुलाने बैठतीं, या दुख भुलाने बैठतीं।

इतना सब करने पर भी कृषक-स्त्रियों को भरपेट भोजन तक नहीं मिलता। अर्थाभाव में मनुष्य अमानुषिक आचरण के लिए विवश होता जाता है, प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी से यह ध्वनित होता है। गुप्त जी इस सच को आत्मसात करते हैं। भारतीय स्त्रियों की दुर्दशा का प्रमुख कारण है उनकी अशिक्षा और इसी लिए पुरुषों पर उनकी निर्भरता। गृह-देवियो की दुर्दशा देख गुप्तजी का वि-हृदय हाहाकार कर उठता है। 'भारत-भारती' के वर्तमान खण्ड में गुप्त जी लिखते हैं—

अनुकूल आद्या शक्ति की सुखदायिनी जो स्फूर्त्ति है,
सद्धर्म की जो मूर्ति और पवित्रता की पूर्ति है,
नर जाति की जननी तथा शुभ शान्ति की स्रोतस्वति !
हा दैव ! नारी जाति की कैसी यहाँ है दुर्गति।।

(भारत-भारती, पृ-101

गुप्त जी स्मरण दिलाते है गार्गी, मैत्रेयी, अहल्या, लक्ष्मी, पद्मिनी, भारती जैसी स्त्रियों का जिनसे हमारी सस्कृति और जातीय इतिहास जगमगा रहे है। गुप्त जी उन मध्यवर्गीय स्त्रियों की दशा पर भी विचार करते है जिनका ध्यान पति से ज्यादा आभूषणों पर ही रहता है। गुप्त जी पूरे विश्वास से लिखते है—"पाती' स्त्रियाँ आदर जहाँ रहतीं वहीं सब ऋद्धियाँ।" स्त्रियों को भी पुरूषों के समान ही शिक्षा और आदर मिले। उन्हें व्यक्तित्व-विकास का मौका दिया जाय तो गुप्त जी का अनुमान है कि वे वह सब कुछ कर सकती हैं, जो योग्य से योग्य पुरुष कर पाते हैं—

क्या कर नही सकती भला यदि शिक्षिता हो नारियाँ ?
रण-रंग, राज्य, सुधर्म-रक्षा, कर चुकी सुकुमारियाँ।

(भारत भारती, -143)

गुप्त जी उन बी. ए. पास गृहस्वामियों को आलोचना का विषय बनाते हैं जो स्वयं की उपाधि पर गर्व करते हैं पर पत्नी की अशिक्षा दूर करने का कोई

प्रयास नहीं करते। संयुक्त परिवार के टूटने के पीछे भी स्त्रियों की अशिक्षा है—अवश्य गुप्त जी की धारणा की अशिक्षा।

संक्षेप में, गुप्त जी नारी को समग्रता में अपनी कविता के केन्द्र में स्थान देते हैं। नारी की उपेक्षा जिन कारणों से पुरुष वर्ग करता आया है, उनकी समीक्षा करते हैं और सबसे बडी बात गुप्त जी नारी के प्रति खण्डित दृष्टिकोण को कठघरे में खड़ा करते हैं। गुप्त जी न केवल पुरुष प्रधान संस्कृति में नारी-शोषण की तस्वीर खींचते हैं, वरन उसके संघर्ष और प्रतिरोध को भी उभारते हैं। (अतीत के हंसः मैथिलीशरण गुप्त, पृ.-44) गुप्त जी का काव्य धर्म भावुकता से पूरी तरह मुक्त नहीं है। वे एक वैष्णव कवि हैं, रामभक्त वैष्णव कवि। बावजूद इसके उन्होंने लोकतान्त्रिक मनीषा के अन्तर्गत नारी का स्वत्व पहचाना है, उसके अधिकारों के लिए रचनात्मक संघर्ष किया है। इस पूरे सन्दर्भ में, हमें ध्यान में रखना चाहिए कि गुप्त जी जिस नारी के लिए रचनात्मक संघर्ष कर रहे है, वह भारतीय नारी है, गुप्त जी के आदर्शों को माननेवाली नारी।

8

काव्य-भाषा की उपलिब्ध का संघर्ष

जिस युग में गुप्त जी ने कविता या पद्य लिखना प्रारम्भ किया, उसकी पृष्ठभूमि मे ब्रजभाषा और खड़ी बोली का द्वन्द्व और संघर्ष चल चुका था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में ही खड़ी बोली में पद्य-रचना के प्रयत्न होने लगे थे, पर 'गद्य और पद्य की एक समान भाषा' के इस आयोजन की सफलता नहीं मिल रही थी। भारतेन्दु के निधनोपरान्त परिदृश्य में बदलाव आया और खड़ी बोली पद्य का आन्दोलन काफी तीव्र हो चला। जब से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के संपादन (1903) का दायित्व सँभाला 'खड़ी बोली पद्य का आन्दोलन' प्रचारात्मक से रचनात्मक होने लगा। श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और स्वयं आचार्य द्विवेदी खड़ी बोली में पद्य-रचना के प्रयास करने लगे थे, परन्तु ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली का प्रभुत्व और वर्चस्व इतनी आसानी से खत्म होनेवाला नहीं था। मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसे ही माहौल में खडी बोली में पद्य लिखना शुरू किया। प्रसंगवश, जान लेना जरूरी है कि गुप्त जी भी द्विवेदी जी के प्रभामण्डल में शामिल होने से पहले ब्रजभाषा के हिमायती थे। शुरू में ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली के प्रति उनका अनुराग प्रबल था। यह द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का सम्मोहन ही था कि गुप्त जी खडी बोली की ओर खिचे चले आये। उनके आरंभिक काव्य-प्रयत्नों की भाषा-सम्बन्धी कुछ समस्याएँ हैं। उन्होंने कुछ अटपटे प्रयोग भी किये हैं, पर जल्दी ही नवयुग की संवेदना के अनुरूप काव्य-भाषा अर्जित करने में गुप्त जी को सफलता मिल गई। इस सफलता के पीछे कुछ तो गुप्त जी का आत्मसंघर्ष है, परन्तु इसका वास्तविक श्रेय द्विवेदी जी के मार्ग-दर्शन और निर्देशन को देना चाहिए।

द्विवेदी जी ने अपने युग में 'आचार्यत्व' का वास्तविक उदाहरण प्रस्तुत किया था। कवियों को क्या लिखना है, कैसे लिखना है-इस संबन्ध में उनके विचार सुस्पष्ट थे। द्विवेदी जी के मत में "कवि को ऐसी भाषा में लिखना चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढने में जी लगता

है। परन्तु जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके अवलोकन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है।" (रसज्ञ-रंजन, पृ.-17)

द्विवेदी जी ने 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक निबन्ध में विस्तार से कविता की भाषा में व्याकरण के नियमों के पालन, मुहावरों के प्रयोग, अनुकूल शब्द-स्थापना और छन्दों की अनिवार्यता आदि के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये है। उनका आग्रह था कि "कविता में शब्दों को यथास्थान ही रखना चाहिए। शब्द-स्थापना ठीक न होने से कविता की दुर्दशा होती है।"

अन्यत्र, द्विवेदी जी लिखते हैं—"आजकल कुछ लेखक तो ऐसी हिन्दी में लिखते हैं, जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अंग्रेज़ी, फारसी, अरबी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशीय शब्दों का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं करते, ढूँढ-ढूँढ़कर ठेठ हिन्दी शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी की कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी-फारसी के सैंकड़ों शब्द ऐसे हैं, जिनको अपढ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार संभव नहीं।" (साहित्यालाप,पृ.-132-33)

कहना अनाश्वयक है कि गुप्त जी की काव्य-भाषा पर द्विवेदी जी के विचारों का प्रभाव पड़ा है। कारण, उनकी अनेक कविताएँ द्विवेदी जी ने सुधारकर 'सरस्वती' में प्रकाशित की थीं। द्विवेदी जी आचार्य की भूमिका में उस युग के लेखकों और कवियों की भाषा सुधारने का दायित्व-निर्वाह कर रहे थे। उन्होंने गुप्त जी की कविता को भी शुरू में सजाया-सँवारा। परन्तु केवल इसीलिए गुप्त जी के आत्म संघर्ष का महत्त्व कम करके ऑकना सही नहीं होगा। गुप्त जी को 'इतिहास की वेदना' का भार वहन करना था। उन्होंने पूरी क्षमता से इस भार को वहन किया। गुप्त जी इतिहास की मुख्यधारा में एक कुशल तैराक की तरह तैरते नजर आते हैं। डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय सही लिखते हैं कि "काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के निर्माण और विकास में मैथिलीशरण गुप्त ने एक मजदूर से लगाकर कुशल कारीगर तक की भूमिका निभायी। उन्होंने कच्चा माल ढोया, उसे करीने से लगाया, उन भूमियों की तलाश की, जहाँ उसे रूपायित किया जा सकता था और अन्ततः एक कंगूरा और मेहरावदार इमारत बनाकर अगली पीढ़ी को सौंपी।" (अतीत का हंस : मैथिलीशरण गुप्त, पृ०-16) काव्य-भाषा की उपलब्धि के संघर्ष में गुप्त जी

एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि अभ्यास के बल पर भी श्रेष्ठ कविता लिखी जा सकती है; यदि उसमें जातीय संवेदना को आत्मसात कर लेने का संकल्प हो तो सोने में सुगन्ध। इस दृष्टि से, उनका महत्त्व आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी स्वाकार किया है। गुप्त जी की कविता की तीक्ष्णतम आलोचना के बावजूद वाजपेयी जी मानते हैं कि "जनसाधारण का कवि होना ही प्रतिभा का सबसे बड़ा प्रसाद है और उस प्रसाद की प्राप्ति के लिए गुप्त जी ने जो साधना की है, वह हिन्दी के इतिहास में उनका नाम अमर कर देने के लिए पर्याप्त है।" (हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी, पृ०-76)

गुप्त जी का काव्य 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' के जमाने से ही जनसंबद्ध कला का अप्रतिम उदाहरण रहा है। कविता और पाठक के बीच उन्हें प्रायः किसी तीसरे की उपस्थिति आवश्यक नहीं लगी। हाँ, कहीं-कहीं शब्द-कोश पलटने की जरूरत पड़ती है। काव्य-भाषा के विकास की दिशा में गुप्त जी क्रमशः और शनैः-शनैः अग्रसर हुए। शुरू में उन्होंने 'रसिकेन्द्र' उपनाम से एक ब्रजभाषा की कविता 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी थी। द्विवेदी जी ने वह कविता नहीं छापी। कविता लौटाते समय उन्होंने गुप्त जी को पत्र में लिखा कि 'आप की कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। 'सरस्वती' में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएँ छापना पसन्द करते हैं। 'कुछ ही समय के बाद गुप्त जी की पहली (खड़ी बोली की) कविता 'हेमन्त' शीर्षक से 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, इसमें द्विवेदी जी ने पर्याप्त संशोधन भी कर दिया था। इस कविता का एक छन्द इस प्रकार छपा–

अच्छे दुशाले सित, पीत काले,
हैं ओढ़ते जो बहुवित्त वाले।
तौ भी नहीं बन्द अमन्द सी, सी;
हेमन्त में है कँपती बतीसी।

इस छन्द की तीसरी पंक्ति डॉ० नामवर सिंह के अनुसार पहले इस प्रकार थी–'तो भी करे हैं सब लोग सी, सी' जिसे संशोधित कर द्विवेदी जी ने 'तौभी नहीं बन्द अमन्द सी, सी' कर दिया है 'द्विवेदी जी का यह संशोधन सानुप्रास भले हो बोलचाल का निश्चित नहीं है।' (आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 86, पृ०-138) बोलचाल की भाषा से द्विवेदी जी का अभिप्राय था खड़ी बोली। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने खड़ी बोली गद्य के साथ पद्य-रचना की प्रवृत्ति को जमकर प्रोत्साहन दिया। गुप्त जी को भी उन्होंने बोलचाल की भाषा में लिखने की जो प्रेरणा दी उसका भी यही अभिप्राय था। गुप्त जी ने जल्दी ही द्विवेदी जी का संकेत समझ लिया, इससे उनके कवि-व्यक्तित्व का सही दिशा में विकास संभव हुआ।

यहाँ काव्य-भाषा की उपलब्धि के लिए गुप्त जी के संघर्षों की छानबीन के क्रम में उनकी आरंभिक कविताओं के तीन उद्धरण दिये जाते हैं—

(क) अस्तु जब आया विदा का दिवस करुणामय बड़ा,
शोक है, उस दिन भंयकर विघ्न एक हुआ खड़ा।
विघ्न क्या, कहना उचित है सर्वनाश उसे अहो ?
श्रवण कर उस बात को होगा न दुःख किसे कहो?
(रंग में भंग, पृ०-10)

(ख) यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है,
जिस विषय से संबन्ध हो वह जान लेने योग्य है,
अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहाँ,
अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहाँ।।
(जयद्रथ-वध, पृ०-02)

(ग) उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है,
चढता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति कला,
उत्थान ही जिसका नहीं, उसका पतन हो क्या भला?
(भारत-भारती, पृ०-8)

इन उद्धरणों में प्रायः पूरे वाक्य ही प्रयुक्त हुए हैं और थोड़े-से हेर-फेर से ही गद्यवत् प्रस्तुत किये जा सकते हैं। डॉ० नामवर सिंह उपर्युक्त दो उद्धरणों में आए 'अतएव' को रेखांकित करते हुए लिखते हैं-"प्रश्न 'अतएव' जैसे एक शब्द का नहीं है, बल्कि इस शब्द से संकेतित उस तर्क-बुद्धि का है जो बोलचाल के वाक्य को गद्य का विन्यास प्रदान करती है। यह संकेत है इस बात की ओर कि कवि का प्रयास वस्तुतः गद्य को छन्द में बाँधने का है और इस प्रक्रिया में वह अन्ततः छन्दोबद्ध गद्य की ही रचना कर पाया है।" (आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 86, पृ.-138) गुप्त जी की आरंभिक काव्य-भाषा ऐसी ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे उनकी रचनाओं के भीतर तीन अवस्थाओं में प्रथम अवस्था मानते हैं। शुक्ल जी लिखते हं-"प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है, जिसमें खड़ी बोली के पद्यों की मसृण-बन्ध रचना हमारे सामने आती है। 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारत-भारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं।"

प्रथम अवस्था में गुप्त जी की काव्य-भाषा कुछ गद्यवत, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती है। इसमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती है। परन्तु दूसरी अवस्था में गुप्त जी को बंगला काव्य का भरपूर सान्निध्य मिल चुका था। बंगला काव्य का गुप्त जी ने न केवल गंभीर अनुशीलन किया, बल्कि

कई महत्त्वपूर्ण कृतियों का उन्होंने उत्कृष्ट अनुवाद भी किया था। इससे उनकी पदावली में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आयी, यद्यपि कुछ ऊबड़-खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दो की ठोकरें कहीं-कहीं, विशेषतः छोटे छन्दों के चरणान्त में तब भी लगती हैं। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास', 'किसान' और 'वैतालिक' में यही स्थिति कमोबेश पायी जाती है। 'किसान' से यहाँ दो उद्धरण दिये जाते हैं–

(क) ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा,
शून्य-मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।
कभी दौड़ने लग जाते हम, रह जाते फिर मुग्ध खड़े,
उड़ने की इच्छा होती थी, उड़ते देख विहंग बड़े।
(पृ.-15)

* * *

(ख) मोर नाचते थे उमंग से, मेघ मृदंग बजाते थे,
कोयल के सहयोगी होकर चंचल चातक गाते थे,
रस बरसाती हुई घटा भी नीचे उतरी आती थी,
प्रकृति नटी निज पट पल-पल में प्रकट पलटती जाती थी।।

काव्य-भाषा का यह निखरा हुआ रूप इतिवृत्त का अपनी सादगी में ही अतिक्रमण करता है। कुछ-कुछ स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव भी 'मेघ के मृदंग बजाने' और 'प्रकृति-नटी' के पल-पल पट पलटने में लक्षित होता है।

काव्य-भाषा के स्तर पर विकास की अपनी तीसरी अवस्था में गुप्त जी मुक्तक रचना में प्रवृत्त होते हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' इस अवस्था की प्रतिनिधि काव्यकृतियाँ हैं। वैसे, देखा जाय तो 'पंचवटी' में ही गुप्त जी की कवि-प्रतिभा पूरी तरह निखर कर आयी है। डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय 'पंचवटी' को ध्यान में रखकर गुप्त जी के भाषिक अवदान को 1905 से 1925 के बीच ही देखना-दिखाना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में 'पंचवटी' गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उन्हें भाषिक दृष्टि से सन् 25 तक की रचनाओं में उर्ध्वाधर और क्षैतिज दोनों विकास स्पष्ट दिखायी देते हैं। इसमें असहमति की कोई बात नहीं, परन्तु 'साकेत' और 'यशोधरा' के प्रकाशन-काल को ध्यान में रखकर इस 'समय-सीमा' को छह-सात साल तक और बढ़ा दिया जाय तो गुप्त जी का काव्य-भाषा के क्षेत्र में जो अवदान है, वह समग्रता में उजागर किया जा सकता है। सन् 25 को ही विशेष रूप से रेखांकित करने के पीछे 'पंचवटी' का प्रसन्न स्थापत्य तो है ही, इसके अतिरिक्त डॉ० श्रोत्रिय की इतिहास-दृष्टि भी इसमें सक्रिय है, जो कहीं न कहीं–गुप्त जी और द्विवेदी-युग के बाद वाले दौर में काव्य-भाषा के विकास का श्रेय प्रसाद-निराला-जैसे कवियों को देना चाहती है। गुप्त जी खड़ी बोली में काव्य-रचना का आयोजन अकारण

या आकस्मिक रूप से नहीं करते। इसके पीछे नवयुग के भारतीय समाज की, विशेषत : हिन्दी भाषी जनता की अपेक्षाएँ थीं—ऐसी अपेक्षाएँ, जिन्हें व्यक्त कर पाने में ब्रजभाषा की कविता अक्षम थी। गुप्त जी का योगदान इस दृष्टि से अविस्मरणीय है कि उन्होंने युग-जीवन की बदलती हुई चेतना और गतिशील यथार्थ को ही कविता का विषय बनाया। बाद में छायावादी कवियों, विशेषतः प्रसाद और निराला ने अधिक कलात्मक रूप में युग-जीवन की आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं को वाणी दी। जो इस स्वाभाविक विकास को नहीं देख पाते, उन्हें छायावादी कविता काव्य-भाषा की उपलब्धि के स्तर पर एक छलांग प्रतीत होती है।

काव्य-भाषा के विकास की जो तीसरी अवस्था है, उसका आरंभ 'पंचवटी' से मानना चाहिए। गुप्त जी की इस कृति में छायावादी कविता के गुण पुंजीभूत रूप में मिलते हैं। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने रेखांकित किया है कि 'कामायनी' और 'पंचवटी' दोनों के प्रारंभ में शैली की समानता है। 'अक्लिष्ट और सरल प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखी 'पंचवटी' में कई जगह अन्तःस्पर्शी व्यंजनाएँ हैं। 'पंचवटी' के साथ 'साकेत' के नवम सर्ग और 'यशोधरा' की गीति-रचनाओं को मिलाकर पढ़ने से गुप्त जी की काव्यभाषा की उपलब्धि को गंभीरता से महसूस किया जा सकता है।

'साकेत' का नवम सर्ग उसकी कथा-धारा में प्रबन्धात्मक वर्णनात्मकता से छूटकर प्रगीतात्मक सघनता में परिणत हो गया है। यह पूरा सर्ग ही प्रेमगीतात्मक प्रतीत होता है। इसमें जो गीत आए हैं वे बड़े निश्छल रूप में आधुनिक बोध के साथ हैं। उदाहरण के लिए (1) 'ओ गौरव गिरि उच्च उदार', (2) 'जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी', (3) 'वेदने तू भी भली बनी', (4) 'दोनों ओर प्रेम पलता है', (5) 'मुझे फूल मत मारो' जैसे गीतों की भाषा द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक काव्य-भाषा से भिन्न आचरण करती है। इनमें विवरण के भीतर बिम्ब का आग्रह परिलक्षित होता है। 'मुझे फूल मत मारो' में गुप्त जी का मर्यादावाद काफी पिछड़ गया है।

'साकेत' के नवम सर्ग में ही एक और गीत है—'निरख सखि ये खंजन आये' इसमें खंजन पक्षी को देखकर उर्मिला अनुमान करती है कि 'फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।' इस गीत की अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

> करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
> फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये।

यह गीत अपने संपूर्ण विन्यास में स्वच्छन्दतावादी चेतना को प्रतिरूपित करता है। ऐसे कई महत्त्वपूर्ण गीत 'साकेत' के नवम सर्ग में संकलित हैं, जिनमें गुप्त जी उर्मिला का मनोविश्लेषण बाह्य प्रकृति के संश्लेष में कर पाते हैं। उनका

यह आचरण द्विवेदी युगीन कविता के इकहरे अर्थवाद और 'स्पष्टता की विचारधारा' से मुक्त एक समर्थ कवि का आचरण है। 'सखि, निरख नदी की धारा' नवम सर्ग में एक छायावादी प्रगीत है। इसमें 'ढलमल-ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा' जैसे प्रयोग हुए हैं। अर्थात् ध्वन्यर्थ व्यंजना के साथ-साथ नाद-सौन्दर्य से युक्त सरस पदावली और संगीतमय स्वर-योजना की ओर गुप्त जी अग्रसर होते हैं।

'यशोधरा' में गुप्त जी की काव्य-कला पूरे उत्कर्ष पर है। यह एक चम्पू काव्य है। प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिक विधाओं का मिश्रण। इसमें गुप्त जी गद्य और पद्य के माध्यम-भेद से परे स्वाभाविक् कविता की भाव-भूमि पर खड़े प्रतीत होते हैं। विशेषतः 'यशोधरा' की गीति-रचनाओं में भावों और विचारों की मर्मस्पर्शी संश्लिष्ट अभिव्यंजना मिलती है–

निशि की अँधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य में तेरे न जाने, कौन सज्जा हो रही।

अभिव्यंजना में यह सादगी अपनी सफाई और संश्लिष्टता में गुप्त जी के 'झंकार' के कुछ गीतों में ही मिलती है। गुप्त जी के समानान्तर जयशंकर प्रसाद प्रगीत के क्षेत्र में ऐसी ही कला का उदाहरण रच पाते हैं।

संक्षेप में, गुप्त जी का काव्य जिस प्रकार कथ्य के स्तर पर विचार-विह्वल करता है, उसी प्रकार शिल्प की समृद्धि से भी पर्याप्त आश्वस्ति देता है। माना जाता है कि नवीन कथ्य की विकलता अपने लिए अनुरूप शिल्प का सन्धान कर लेती है। गुप्त जी में काव्य-रूपों की जो विविधता है, उसका भी यही कारण है। विशेषतः महाकाव्य और खण्ड काव्य के वर्णनात्मक प्रयोगों के लिए गुप्त जी की प्रसिद्धि है। उनके खण्ड काव्यों में 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'शकुन्तला', 'पंचवटी', 'शक्ति', 'सैरन्ध्री', 'वन-वैभव', 'विकट भट', 'नहुष' 'अर्जन और विसर्जन', 'काबा और कर्बला', 'अजित', 'हिडिम्बा' और 'विष्णुप्रिया' प्रमुख हैं। इसमें 'रंग में भंग', 'अर्जन और विसर्गन', 'सिद्धराज', 'काबा और कर्बला' इतिहास से लिये गये कथानकों पर आधारित हैं। जबकि 'जयद्रथ-वध', 'शकुन्तला', 'सैरन्ध्री' 'वक-संहार', 'नहुष', 'हिडिम्बा' और 'युद्ध' का संबन्ध महाभारत से है। इनमें से 'जयद्रथ-वध' को छोड़कर शेष कृतियों को किसी न किसी रूप में 'जयभारत' जैसे महान-ग्रन्थ में समाहित कर लिया गया है। 'पंचवटी' रामकथा के एक मार्मिक प्रसंग का आधार लेकर लिखी गई है और 'शक्ति' में देवीपुराण की महिषासुर-वध की घटना का वर्णन है। 'विष्णुप्रिया' में चैतन्य महाप्रभु की पत्नी को परिदृश्य में लाया गया है। 'द्वापर' एक भिन्न रचना है, जिसकी चर्चा का मुख्य कारण 'विधृता' का चरित्र है।

गुप्त जी का 'साकेत' विवादों के बावजूद 'प्रिय-प्रवास' के बाद खड़ी बोली का दूसरा महाकाव्य माना जाता है। 'जयभारत' का प्रबन्धत्व थोड़ा शिथिल है, परन्तु एक महान कथा-काव्य के रूप में उसकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। राष्ट्रकवि ने कुछ महत्त्वपूर्ण गीतिनाट्यों की रचना भी की है। 'लीला', 'अनघ', 'दिवोदास', पृथ्वी-पुत्र' गीति नाट्य की दृष्टि से उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। गीतिनाट्य के अतिरिक्त समय-समय पर गुप्त जी ने गीतों की भी रचना की। उनके प्रबन्ध काव्यों में तो एक से बढकर एक गीत बिखरे हुए हैं ही—'वैतालिक', 'विश्ववेदना', 'झंकार', अंजलि और अर्घ्य' गुप्त जी के गीतों के ही संग्रह हैं। गीतों में गुप्त जी द्विवेदी युगीन काव्य-रूढ़ि से मुक्ति की वेदना के साथ हैं। उनकी 'गीतिमयता अन्तर्मुखी चेतना की पुलक से निस्पन्द' नहीं है।

गुप्त जी का काव्य छन्दोबद्ध है। उन्होंने हिन्दी के जातीय छन्द के विकास में अपने युग के कवियों की तुलना में अधिक योगदान किया है। उनका यह असन्दिग्ध काव्य-विवेक ही था कि उन्होंने संस्कृत गण वृत्तों को छोड़कर हिन्दी के चिर-परिचित 'हरिगीतिका' को अपनाया। 'हरिगीतिका' वह छन्द है, जिसे हिन्दी जाति के लोकमानस में बसे तुलसीदास ने कथा-प्रवाह के अन्तर्गत थोड़े-थोड़े अन्तराल पर सभी भाव आसंगों में इस्तेमाल किया है। तुलसीदास ने इस छन्द के द्वारा कथा कहने का भी काम लिया है, उपदेश देने का भी और मार्मिक क्षणों की अभिव्यक्ति का भी। मैथिलीशरण गुप्त ने इस छन्द को 'जयद्रथ-वध' में कथा कहने के लिए तो इस्तेमाल किया ही, 'भारत भारती' में इसे उद्‌बोधन की विभिन्न दशाओं का भी वाहक बनाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह छन्द गुप्त जी के हाथों खड़ी बोली में कविता की संभावनाओं को उजागर करनेवाला प्रमाणित हुआ।' (डॉ. नामवर सिंह, आलोचना-अक्टूबर-दिसम्बर 86, पृ.-139)

जिस युग में राष्ट्रकवि गद्य-पद्य के अन्तर को कम से कम करने का प्रयत्न कर रहे थे, उस युग में हरिऔध सरीखे 'कवि सम्राट्' प्रियप्रवास' में संस्कृत गणवृत्तों का आधार लेकर अनजाने ही खड़ी बोली की कविता के बढ़ते चरण को पीछे खींचने का काम कर रहे थे। इससे गुप्त जी के काव्य-विवेक की समकालीनता समझ में आती है। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के अनुभवों से लाभ उठाया और अन्ततः कानों को खटकनेवाली खड़ी बोली को कोमलकान्त पदावली की भाषा में ढाल सकने में सफलता पायी। इसमें सन्देह नहीं कि छन्दों के ढाँचों में भाषा बिठाने के दौर में उनसे अनेक त्रुटियाँ और अस्वाभाविकताएँ हुई हैं; पुनरावृत्तियाँ, स्फीति और गद्यात्मक ठोसपन भी आया है। परन्तु खड़ी बोली को लोक-मन से उतारने के लिए उन्होंने गेयता, लय, गति-यति, स्मरणीयता, रोचकता के जो रास्ते

खोले हैं, वह अविस्मरणीय हैं। (अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.-33) डॉ० श्रोत्रिय महसूस करते हैं कि 'गुप्त जी के लिए छन्द भाषा और भाव के हाउसिंग बोर्ड जैसे मकान थे, जहाँ मकान की सुविधा से रहना होता है, सुविधा के मकान में नहीं।'

गुप्त जी मूलतः अभिधा के कवि थे, पर कहीं-कहीं उनके काव्य में लक्षणा-व्यंजना की छटा भी निखर कर आयी है। उनकी सुस्पष्ट साहित्यिक मान्यताएँ थीं, आदर्श थे—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
(भारत-भारती, पृ.-177)

* * *

है अन्ध-सा अन्तर्जगत कवि-रूप सविता के बिना,
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना।
(वही, पृ.-177)

* * *

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता, करती विचारोत्कृष्टता।
(वही, पृ.-09)

* * *

हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ
(साकेत, पृ.-27)

* * *

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
(वही, पृ.-27)

* * *

अलक्ष की बात अलक्ष जानें
समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?

रहे वही प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।
(वही, पृ.-335)

ए. सी. ब्रैडले का कथन है—"यदि किसी कविता को महान् जैसी कोई बात कहनी है तो वह एक अर्थ में वर्त्तमान से संबद्ध अवश्य होनी चाहिए। इसका विषय कुछ भी हो सकता है पर इसे वह कुछ जीवित अवश्य व्यक्त करना चाहिए जो उस मस्तिष्क में है, जिससे वह आती है तथा जिन मस्तिष्कों में उसे जाना है। शरीर के साथ उसकी आत्मा भी यहीं और अभी होनी चाहिए।" गुप्त जी के आधुनिक कथ्य-विचार में ही शिल्प की नवीनता निहित है। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं, जातीय संस्कृति की अनिवार्यता से व्युत्पन्न हैं।

9

रचनाएं

द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त के कृतित्व-विचार में उनके द्वारा छिट-फुट रूप से लिखे गद्य साहित्य को शामिल करना इसलिए भी आवश्यक है कि वह कवि का गद्य है। कवि का गद्य हमेशा ही कुछ विशिष्ट होता है। गद्य को हमारे यहाँ कवियों की कसौटी कहा गया है। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ रचना में आलोचना और इतिहास-दृष्टि निहित रहती है, उसी प्रकार एक अच्छी कविता अपनी प्रकृति में गद्य को आत्मसात कर लेती है; जबकि रचनात्मक गद्य की पहचान में कविता के गुण अनिवार्यतः पाये जाते हैं। "पॉल वैलेरी ने गद्य और पद्य का अन्तर समझाते हुए, क्रमशः गद्य और पद्य की तुलना चलने और नाचने से की है। नाचने में कहीं जाना नहीं होता, चलने में एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक, एक जगह से दूसरी जगह तक जाना-पहुँचना होता है।" (अशोक वाजपेयी, पूर्वग्रह, 90 का संपादकीय) यह अलग बात है कि नाचने वाले भी चलते हैं और चलनेवाले भी कभी-कभी नाचते हैं। गुप्त जी का गद्य नाचने से ज्यादा चलने का पक्ष-पोषण करता है। यह रचनात्मक भी है और विवेचनात्मक भी। कहा जा सकता है कि गुप्त जी के गद्य और पद्य दोनों में विचार की गति एक खास दिशा में लक्ष्यनिष्ठ आसक्ति के साथ दिखाई देती है।

गुप्त जी का गद्य अपनी प्रकृति में प्रसन्न और असर में जीवन्त है। डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं–'उनके जीवन्त गद्य का एक बड़ा अच्छा उदाहरण है गणेश शंकर विद्यार्थी पर लिखा उनका संस्मरण तो विवाद-दृप्त गद्य का नमूना है दिसम्बर 1914 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो"–शीर्षक लेख, जिसमें ब्रजभाषा के समर्थकों को मुँहतोड़ जवाब देते हुए खड़ी बोली की वकालत की गई है।' (आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 86, पृ.-141)

गुप्त जी के रचना-संस्कार को परिमार्जित करने में आचार्य द्विवेदी और उनके संपादन में निकलनेवाली 'सरस्वती' का विशिष्ट योगदान है, यह बात हम पहले कह आये हैं। शुरू में एक रचनाकार के रूप में गुप्त जी का द्विवेदी जी से कोई अच्छा संबन्ध नहीं था। बाद में उनका संबन्ध सघन हुआ, संभवतः 'भारत-

भारती' के प्रकाशन से थोड़ा ही पहले। शुरू मे द्विवेदी जी ने गुप्त जी को आड़े हाथों लिया। गुप्त जी ने अपनी एक कविता 'क्रोधाष्टक' जब 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी और वह प्रकाशित भी हुई, परन्तु द्विवेदी जी ने उन्हे समझाते हुए लिखा–

"हमलोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने-योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नही करना चाहते। कुछ भी लिखकर छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े समय में ही लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घण्टे लग गये।

गुप्त जी उन दिनों की स्मृति उजागर करते हुए लिखते हैं– "उन दिनों बड़ी दुविधा में रहता था। पूज्य द्विवेदी जी नहीं चाहते थे कि मैं 'सरस्वती' के अतिरिक्त और कहीं कुछ छपाऊँ। आरंभ में तो उन्होंने मुझे इस कारण रोका था कि बिना संशोधन-परिशोधन के मेरी रचनाएँ अन्यत्र अच्छे रूप में नहीं छपेंगी। पीछे वे मुझे अपना अधिकृत मानने लगे थे और उनका मुझपर एकान्त अनुग्रह था। किन्तु दूसरे लोग भी मुझसे अपने पत्रों के लिए कुछ भेजने को अनुग्रहपूर्वक आग्रह किया करते थे। इस कारण मैं बड़े असमंजस में पड़ जाता था।"

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में ही गुप्त जी ने अपने हृदय की बात लिख दी है। उनका गद्य अक्सर बनावटीपन से मुक्त है। पद्य में गहन स्तर पर निरन्तर सांस्कृतिक दायित्व को वहन करने की प्रवृत्ति ने कई बार उनके गद्य को भी प्रभावित किया है। पद्य-रचना में गुप्त जी प्रायः आत्मनिरपेक्ष हैं, देश और जाति के गौरवपूर्ण अतीत के सम्मोहन में डूबे, उसके वर्तमान से जूझते हुए। पर गद्य में गुप्त जी मौका पाकर अपने पर भी उतर आते हैं। वे आचार्य द्विवेदी का अनुशासन मानते थे, यह सच है–पर उनकी मानसिकता उनसे भिन्न थी। द्विवेदी जी 'सरस्वती' को बिल्कुल ही राजनीतिक नहीं होने देना चाहते थे। यही कारण था कि गुप्त जी की 'पूर्वदर्शन' कविता 'मर्यादा' में प्रकाशित हुई, 'सरस्वती' में नहीं। 'पूर्वदर्शन' पढ़कर ही कुर्रीसुदौली (रायबरेली) ताल्लुकेदार राजा रामपाल सिंह ने गुप्त जी को पत्र लिखा और आग्रह किया कि 'हाली' की उर्दू मुसद्दस के समान वे एक काव्य लिखें। गुप्त जी का मन तो था ही, पर जब इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी से उनकी राय लेनी चाही तो द्विवेदी जी ने लिखा–'आजकल ऐसी पुस्तक लिखने पर शासकों से लेखक की रक्षा कौन करेगा !

गुप्त जी के गद्य में भीतर का रहस्य खोलने का प्रयास हुआ है। 'भारत-भारती' पर राजद्रोह के आरोप के भय से कुछ खास पंक्तियों में उन्हें संशोधन करना पड़ा। गुप्त जी के एक संस्मरण से ज्ञात होता है कि राजा रामपाल सिंह

ने 'भारत-भारती' को राजकोप से बचाने में सहायता की। राजा साहब कॉग्रेस के भीतर नरम दल के लोगों से जुड़े थे, जो तिलक जैसे गरम दल के नेता के विरोधी थे। गुप्त जी लिखते है–"उस समय मैं सचमुच रो दिया जब पुस्तक में आए तिलक नाम को भी निकाल देने का मुझसे आग्रह किया गया।" गुप्त जी ने लिखा था–

यदि जन्म लेते थे महात्मा भीष्म तुल्य कभी यहॉ,
तो जन्मते हैं तिलक जैसे धीर वीर अभी यहॉ।

'यहाँ बडों के समझाने-बुझाने पर' गुप्त जी ने विवश-भाव से दूसरी पंक्ति इस प्रकार कर दी–

'तो जन्मते हैं कुछ दृढ़व्रत लोकमान्य अभी यहाँ'

'लोकमान्य' पद तिलक के लिए तब निश्चित हो चुका था। परन्तु इतने-से संशोधन के बाद भी गुप्त जी का मन दुखी हो गया। उन्होंने अपना दुःख द्विवेदी जी से प्रकट किया तो उन्होंने यह कहकर उन्हें सान्त्वना दी कि 'तनिक-सी बात के लिए 'भारत-भारती' जैसी पुस्तक जब्त हो जाये और लोग उसके पढने से वंचित रहें, क्या यह अच्छी बात होगी ?" द्विवेदी जी को पाठकों का भरोसा था, उन्होंने गुप्त जी को समझाया कि 'जिन बातों से तुम्हें पीडा पहुँचती है उनका भेद भी लोग समझ जायेंगे।'

आरंभ में गुप्त जी पद्य की भॉति गद्य में भी लालित्य भरने का प्रयास करते हैं। श्री रामशरण शर्मा 'मुंशी' ने उनकी गद्य-शैली पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है कि 'किशोरावस्था के आलंकारिक गद्य से क्रमशः उनका गद्य यथार्थ-परक और विश्लेषणात्मक गद्य का रूप धारण करता है।' अपने लेख में मुंशी जी ने सन् 1904 में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी को लिखे उनके एक पत्र का हवाला दिया है, जिसमें 'संस्कृतगर्भित, अलंकरण-युक्त और सानुप्रास गद्य' की छटा देखी जा सकती है–

'कार्तिक शुक्ल 3, संवत् 1961, श्री मान् पंडित जी महाराज, चरणार्विन्दों में बहुशः प्रणाम। भवदीय चरण सत पत्र प्रसादात्रं कुशलं तत्रायध्यस्तु, अग्रेवृत्तामिदं ईयम्। कृपासिन्धु। करकंजाकिंत शिक्षापत्र 28-10-1904 को प्राप्त हुआ। पत्र देने में कई कारणों से विलम्ब हुआ, क्षमा कीजिएगा। भगवन ! इतना खेद मुझे अपनी कविता 'सरस्वती' में न प्रकाशित होने का नहीं हुआ जितना 'सरस्वती' के पाठकों की ब्रजभाषा पर तुच्छता का। जो हो, अपनी-अपनी रुचि होती है, मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना।' (मैथिलीशरण : एक मूल्यांकन, पृ.-75)

गुप्त जी इस समय तक ब्रजभाषा के व्यामोह से मुक्त नहीं हो सके थे। वे द्विवेदी जी को इस बात के लिए उलाहना दे रहे थे कि 'सरस्वती' के पाठक

ब्रजभाषा को तुच्छ समझते हैं। इस पत्र में आगे गुप्त जी 'खड़ी बोली में अपनी स्वाभाविक अरूचि' की बात कहते हैं। ये उन्हीं के शब्द हैं–

"महात्मन ! निस्सन्देह श्रीमान् के चरणाम्बुजों में मेरी हार्दिक भक्ति है। 'सरस्वती' से पूर्ण प्रेम है और खड़ी बोली में यथाशक्य कविता भी रच सकता हूँ। परन्तु क्या किया जाय ? खेद का विषय है कि इस दास को स्वभाव से ही खड़ी बोली में कुछ अरुचि-सी है।"

कालान्तर में गुप्त जी की अरूचि दूर हुई और तब ब्रजभाषा का व्यामोह भी नहीं रहा। यह अलग बात है कि ब्रजभाषा की कविता से उनका प्रेम-भाव बना रहा। द्विवेदी जी को ही एक अन्य पत्र में गुप्त जी लिखते हैं–"जब श्रीमान् जैसे विद्वान पुरुषों को ही खड़ी बोली रुचिकर है, तब मुझ-जैसे अशिक्षित, अल्पज्ञ, अविवेकी, अनभिज्ञ एवं अबोध बालक की गणना ही क्या ? अस्तु अवकाश पाने पर खड़ी बोली में कविता रचकर श्रीमान् की सेवा में अर्पण करूँगा।"

गुप्त जी के इन गद्यांशों में उनकी आरंभिक मनोदशा का संकेत मिल जाता है। रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत एक युवा प्रतिभा की झलक इनमें मिल जाती है।

द्विवेदी जी को लिखे पत्रों की चर्चा के बाद मुंशी जी ने अपने लेख में गुप्त जी द्वारा 27 मार्च, 1905 को लिखे श्रीधर पाठक को संबोधित एक पत्र का जिक्र किया है। इस पत्र में गुप्त जी लिखते हैं—

'श्रीमान् पंडित जी महाराज ! बहुशः प्रणाम। शमस्तु तत्रास्तु, अग्रेंवृत्त भिदम्।

महोदय।

भवदीय प्रेषित एवं विरचित 'काश्मीर-सुषमा' नामक एक अपूर्व पुस्तक प्राप्त हुई जिसके प्रत्येक पद्य से सरसता, माधुर्य्यता, लावण्यता एवं काव्य-कुशलता टपकी ही पड़ती है।

कहाँ तक प्रशंसा करूँ ? अकथनीय है ! अनिर्वचनीय है !! अलेखनीय है !!!"

इन पत्रों की भाषा पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि युवा कवि मैथिलीशरण जी इनमें तुतला रहे हैं, खुलकर अपनी बात नहीं कह पा रहे हैं। मुंशी जी इन्हें लक्षित कर टिप्पणी करते हैं–'द्विवेदी जी को लिखे पत्र में यदि 'अल्पज्ञ', 'अविवेकी', 'अनभिज्ञ' एवं 'अबोध' की बहार थी तो पाठक जी को लिखे पत्र में 'अकथनीय', 'अनिर्वचनीय' और 'अलेखनीय' की बहार है।' (मैथिलीशरण गुप्त : एक मूल्यांकन, पृ.-77)

आज इतने दिनों के बाद यह जानकर आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता होती है कि गुप्त ज़ी ने एक जमाने में पुस्तक-समीक्षा का कार्य भी किया था। आचार्य द्विवेदी

के कहने पर गुप्त जी ने श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' रचित 'काव्य-प्रभाकर' पुस्तक की समालोचना की थी। उनकी यह समालोचना लम्बी थी और 1912 ई. की 'सरस्वती' की संख्या 4 ओर 5 में क्रमशः प्रकाशित हुई थी। इस समीक्षा का एक अंश मुंशी जी ने अपने लेख में उद्‌धृत किया है, जो इस प्रकार है–

"भानु जी उदाहरणों के विषय में लिखते हैं–जहाँ तक बना अश्लील उदाहरणों का बहुत कुछ बचाव किया गया है। यदि इतने पर भी कहीं भूल हो गई हो, तो आशा है कि उदार पाठक क्षमा करेंगे। यह लिखना आपकी शालीनता है, पर खेद है, 'काव्य-प्रभाकर' के अनेक स्थलों में बेहद शृंगारिक पद आ गये हैं। उनमें से कोई-कोई अश्लील भी हैं। अपनी विस्तृत समालोचना में उदाहरण देकर 'काव्य-प्रभाकर' के लेखक की रीतिवादी मनीषा पर गुप्त जी प्रहार करते हैं। इसके अतिरिक्त कविता की भाषा को लेकर भी 'भानु' जी की मान्यताओं पर गुप्त जी चुटकी लेते हैं। भानु' जी ने लिखा था कि 'खड़ी बोली की कविता के प्रेमियों को चाहिए कि वे प्रथम सर्वगुण आगरी परम नागरी रसीली ब्रजभाषा की कविता में अच्छी योग्यता प्राप्त कर लें, पश्चात खड़ी बोली की कविता में हाथ डालें।' इस पर गुप्त जी की टिप्पणी है कि 'और यदि संभव हो, तो भानु जी की यही बात और बढ़ाकर इस तरह कही जा सकती है कि जो लोग अंग्रेज़ी में कविता करना चाहें वे पहले लैटिन में योग्यता प्राप्त कर लें।"

इससे पता चलता है कि गुप्त जी गद्य में कई बार अपनी कवि-प्रकृति से अलग आचरण करते हैं। उन्होंने ख़ास-ख़ास मौक़ों पर व्यंजना का भी सहारा लिया है तथापि कहा जा सकता है कि गुप्त जी कालानुसरण की क्षमता का पूरा-पूरा आभास पद्य के साथ-साथ गद्य में भी देते हैं। 'जयद्रथ-वध' के प्रकाशन से पहले ही गुप्त जी खड़ी बोली के पक्ष में अपना मन बना चुके थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ अधिवेशन के लिए गुप्त जी ने जो भाषण तैयार किया था, उसका शीर्षक ही था–'हिन्दी कविता किस ढंग की हो ?' इसमें ब्रजभाषा के लालित्य की सराहना के बावजूद ब्रजभाषा कविता की सीमाओं का उल्लेख है। ब्रजभाषा कविता की सीमा यह है कि 'नूपुरों का रव ही उसमें अधिक सुन पड़ता है, और तरह की ध्वनियाँ कम सुनाई पड़ती हैं।' उच्च भावों की सहानुभूति का अभाव, लोकानुभूति की विरलता आदि को रेखांकित करते हुए गुप्त जी ब्रजभाषा कविता की सम्यक आलोचना करते हैं और खड़ी बोली में कविता-रचना को नवयुग की आवश्यकता बताते हैं। राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में लिखना विशेष उपयोगी है–गुप्त जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

उचित सन्दर्भ में, गुप्त जी विभिन्न काव्योपकरणों की भी जाँच-परख करते

हैं। माइकेल मधुसूदन दत्त कृत 'मेघनाद-वध' के अनुवाद के 'निवेदन' में उन्होंने कविता में अनुप्रास के मोह को अनुचित ठहराया है। उनके मत में, 'जो लोग यह कहते हैं कि अनुप्रास नई सूझ पैदा करते हैं, वे कृपाकर इस विषय में फिर से विचार करें। अनुप्रास नई सूझ पैदा करते हैं, यह कहना किसी कवि का अपमान करना है । वे यह कहते कि अनुप्रास का बन्धन कवि को बाधा नहीं दे सकता, तब भी एक बात थी। परन्तु क्या वास्तव में ऐसा है ? इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं कि कभी-कभी तुक के कारण कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है।' (मेघनाद-वध, पृ.-11)

गुप्त जी अपने अनुभव के आलोक में ही यह लिख सके हैं–"बहुधा ऐसा होता है अनुप्रास के लिए भाव भी बदल देना पड़ता है... यह कविता के लिए प्रतिकूल होता है। जो बात गौण होती है उसे प्रधानता देनी पड़ती है और जो प्रधान होती है उसे गौण बनना पड़ता है। कवि के स्वाभाविक धारा-प्रवाह को धक्का लगता है और सारा चलविचल हो जाता है । उसे दूसरा शब्द रखना पड़ता है।" (मेघनाद-वध, पृ.-11)

ये विचार उस कवि के हैं जो अपनी कविताओं में अलंकारों का स्वागत करता है। अनुप्रास तो विशेष रूप में गुप्त जी की कविता में आये हैं। बावजूद इसके गुप्त जी अनुभव करते हैं कि अनुप्रास कवि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। अनुप्रास के साथ-साथ गुप्त जी "तुक के सम्बंध में भी अपने विचार सुस्पष्ट रूप में रखते हैं। उनकी मान्यता है कि तुक एक कृत्रिमता है। जहाँ तक कानों का संबन्ध है, वह भले ही अच्छी मालूम हो किन्तु हृदय हिला देनेवाली वस्तु दूसरी ही होती है।" "जो अतुकान्त कविता को बेतुकी कहकर उसकी हँसी उड़ाते हैं", गुप्त जी उन्हें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास का स्मरण कराते हैं। ये ऐसे क्लासिक के कवि हैं, जिन्होंने तुकबन्दी नहीं की है, पर जिनकी कविता अमर है। गुप्त जी महसूस करते हैं कि 'जब से शब्दालंकारों की ओर' कविगण झुक पड़े, 'तबसे ही कृत्रिमता और आडम्बर का समावेश हुआ है।' (मेघनाद-वध,पृ.- 12)

गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त की इस बात के लिए प्रशंसा की है कि "उन्होंने छन्द की अधीनता न करके छन्द को ही अपने अधीन बनाया।" उनकी यह प्रशंसा विशेष अर्थपूर्ण इसलिए भी है कि निराला और पन्त के मुक्त छन्द सम्बन्धी विचारों का प्रस्थान-बिन्दु इसमें ढूँढ़ा और पाया जा सकता है। कवि का छन्द पर अधिकार हो–यह आदर्श स्थिति है, पर उसके द्वारा छन्द की अधीनता स्वीकार लेने पर दोनों का अहित होता है, कवि और कविता दोनों का। ऐसे में, जो कवि सस्ती लोकप्रियता के लिए छन्द की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, गुप्त जी के इन विचारों को पढकर उनकी आँखें खुल जानी चाहिए।

'गुरुकुल की भूमिका में राष्ट्रकवि खड़ी बोली को उसका जन्म-सिद्ध अधिका जो कवि सस्ती लोकप्रियता के लिए छन्द की अधीनता (राष्ट्रकवि का दर्जा) मिल जाने पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं, परन्तु 'ब्रजभाषा' को 'हिन्दी' कवियों की वैदिक भाषा' कहते हैं और और घोषित करते हैं कि 'वह ऋचाओं की भाँति हमारे लिए पवित्र हैं।'

भाषा में केवल अधिकार-बोध को ही पर्याप्त मान लेना सही नहीं है। यदि हिन्दी ने बड़ा पद पा लिया है तो उसका शब्द-भण्डार समृद्ध होना चाहिए। गुप्त जी लिखते हैं—"शब्द बोलते हुए संकेत हैं। जिस भाषा में भिन्न-भिन्न भावों और क्रियाओं के लिए भिन्न-भिन्न शब्द न हों, वह कभी पूर्ण भाषा नहीं हो सकती।" (गुरुकुल, पृ-12)

खड़ी बोली की कविता सदा जीवन्त बनी रहे, इसके लिए गुप्त जी प्रान्तिक बोलियों के शब्दों को कविता में लाने की आवश्यकता बताते हैं। कविता को लोक समावेशी होना चाहिए, उसमें सबका निर्बाध प्रवेश हो सके इसके लिए लोक भाषा के संस्पर्श के काव्यभाषा का आभिजात्य भंग करते रहना एक सार्थक कवि-कर्म है। गुप्त जी ने विवेचनात्मक गद्य के साथ-साथ अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाएँ भी लिखी हैं। उनके संस्मरणात्मक गद्य की दो पुस्तकें (1) मुंशी अजमेरी' और (2) 'श्रद्धाजंलि—संस्मरण' प्रकाशित हुई हैं। इन सबको मिलाकर पढ़ने से पता चलता है कि गुप्त जी का गद्य समय के साथ जिस प्रकार खुलता खिलता गया है, कुछ उसी प्रकार उनका गद्य भी। गुप्त जी गद्य में पद्य में समाभ्यास्त हैं। उनका पद्य साहित्येतिहास की मुख्य धारा में एक युग विशेष का प्रतिनिधित्व करता है और गद्य राष्ट्रकवि की बौद्धिकता, काव्य-दृष्टि और रचना की गंभीर समझ का निदर्शन प्रस्तुत करता है।

10

उपसंहार

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में मध्यकाल की सगुण भक्ति की दोनों धाराएँ आधुनिकता-बोध के साथ गतिशील दिखाई पड़ती हैं। उनकी ख्याति विशेषतः एक रामभक्त वैष्णव कवि के रूप में है परन्तु देखना यह है कि गुप्त जी राम के समान ही कृष्ण को भी अनार्य मानने से इनकार करते हैं। रामायण के साथ-साथ महाभारत भी उनके कथाकाव्यों का समानान्तर रूप में उपजीव्य रहा है। गुप्त जी द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि हैं, यह एक स्वीकृत तथ्य है। इतिवृत्त-परम्परा के सर्वाधिक सुदृढ़ स्तंभ आधुनिकों में उन्हें ही माना जाता है। द्विवेदी जी के आचार्यत्व के विनम्र आज्ञाकारी अनुयायी के रूप में उन्हें ही मर्यादा और नैतिकता का सर्वाधिक समर्थ संवाहक भी माना जाता है। इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, तथापि यह विचारणीय है कि गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त कृत 'मेघनाद-वध' का अनुवाद क्या केवल बाह्य दबाव में किया ? दत्त महाशय के आदर्शों से गुप्त जी की वैष्णवता का क्या संबन्ध है ? विस्तार में न जाकर मैं इतना ही कहूँगा कि गुप्त जी की धार्मिकता का लोकतान्त्रिक आधार अस्पष्ट नहीं है। वह अपनी स्वाभाविक परिणति में मानवीय है, आदर्शोन्मुख होकर भी व्यावहारिक और यथार्थ के समीप है। 'भारत-भारती' में गुप्त जी ने लिखा है–

ज्ञानानुभव से तुम न निज साहित्य को वंचित करो।
पाओ जहाँ जो बात अच्छी, शीघ्र ही संचित करो।।

ज्ञान की बातों के लिए गुप्त जी अपनी संवेदना की खिड़कियाँ और दरवाजे कभी बन्द नहीं करते। उनकी कविता ज्ञानात्मक संवेदना के प्रबल पक्ष की सूचना देती है। 'रंग में भंग' से लेकर 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती', 'किसान', 'साकेत', 'यशोधरा', 'गुरुकुल', 'विष्णुप्रिया' जैसी महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियों के द्वारा गुप्त जी ने हिन्दी प्रदेश की जनता का अपने ढंग से गंभीर सांस्कृतिक प्रशिक्षण किया, उसकी सौन्दर्याभिरुचि को कुत्सित यथार्थ के सामने घुटने टेकने से रोका। विशेषतः भारतीय नारी और भारतीय किसान की नियति से गुप्त जी ने क्रमशः

सहानुभूति और आत्मीयता के धरातल पर रचनात्मक साक्षात्कार किया। अवश्य, राष्ट्रकवि की स्फीत संवेदना के अनुरूप काव्य-भाषा के विकास की समस्याएँ भी उनके आत्म-संघर्ष का विषय रही हैं। गुप्त जी ने बड़े धैर्य से अल्पवयस्क खड़ी बोली को परिश्रमपूर्वक प्रौढ़ा काव्य-भाषा में रूपान्तरित कर दिया। उन्होंने उसे 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा प्राप्त करने योग्य रचनात्मक क्षमता से समृद्ध किया। गुप्त जी जैसे-जैसे भारतीय जनता की वेदना को वास्तविक रूप में आत्मसात करते जाते हैं, वैसे-वैसे उनका काव्य कथ्य के साथ-साथ शिल्प के स्तर पर भी समृद्ध होता गया है।

इतिवृत्त और शिथिल पदबन्ध के क्लिष्ट तत्सम प्रयोग से शुरू कर, गुप्त जी आत्माभिव्यंजना के प्रकृत स्थापत्य प्रगीत के योग्य भाषा और संवेदना अर्जित कर पाते हैं। इस प्रक्रिया में वे निरन्तर हिन्दी जाति की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को प्रतिरूपित भी करते जाते हैं। यह सच है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से किसी युगान्तर का दावा कभी नहीं किया। आचार्य शुक्ल ने उनके सन्दर्भ में ठीक ही लिखा था-"गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है, कालानुसरण की क्षमता, अर्थात उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये अवश्य कहे जा सकते हैं।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-418)

गुप्त जी ने युग-प्रवर्त्तन भले नहीं किया हो, पर उनके कवि-कर्म के व्यापक सरोकार हिन्दी नवजागरण में ढूँढे और पाये जा सकते हैं। 'हेमन्त' से लेकर 'अब वे वासर बीत गये' के बीच गुप्त जी अनथक अपने काव्य-प्रयत्नों से राष्ट्रीय भावधारा का प्रतिनिधित्व करते रहे। उनका देश-प्रेम हमारे लिए जातीय विरासत है। देश और जनता के प्रति गुप्त जी का कवि-कर्म समर्पित रहा, अतः स्वाभाविक ही है कि देश और जनता ने उन्हें सहज सम्मान और स्नेह दिया।

गुप्त जी का काव्य अधिकांश में आज भी उपयोगी और प्रासंगिक है तो इसलिए कि वह देश-प्रेम की भावना से आपूरित है। वह प्रकृत रूप में हमारा जातीय संगीत है। गुप्त जी इस दृष्टि से अनोखे और व्यक्तित्व-संपन्न कवि हैं कि आधुनिकतावाद के विरुद्ध उनका रचनात्मक संघर्ष बिना व्यवधान के ही समझ में आ जाता है। उनका काव्य-स्वर स्पष्ट और प्रभावशाली है और उनकी जनसम्बद्धता को कलात्मक होने का न कोई दंभ है, और न कोई लोभ।

परिशिष्ट

(क) मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित पुस्तकें :

काव्य :

1.	रंग में भंग	(1909)
2.	जयद्रथ-वध	(1910)
3.	भारत-भारती	(1912)
4.	तिलोत्तमा	(1915)
5.	चन्द्रहास	(1916)
6.	किसान	(1916)
7.	वैतालिक	(1916)
8.	पत्रावली	(1916)
9.	शकुन्तला	(1914, 1923)
10.	लीला	(सरस्वती में (1919) पुस्तकाकार 1960)
11.	पंचवटी	(1925)
12.	आर्य	(1925)
13.	स्वदेश संगीत	(1925)
14.	हिन्दू	(1927)
15.	त्रिपथगा	(1927)
	वह-संहार	
	वन-वैभव	
	सैरन्ध्री	
16.	शक्ति	(1927)
17.	विकटभट	(1928)
18.	गुरुकुल	(1928)
19.	झंकार	(1929)

20.	साकेत	(1931)	
21.	यशोधरा	(1932)	
22.	उच्छ्वास	(1935, 1960)	
23.	सिद्धराज	(1936)	
24.	मंगलघट	(1937)	
25.	नहुष	(1940)	
26.	कुणाल गीत	(1942)	
27.	अर्जन और विसर्जन	(1942)	
28.	विश्व-वेदना	(1942)	
29.	काबा और कर्बला	(1942)	
30.	अजित	(1946)	
31.	प्रदक्षिणा	(1950)	
32.	पृथ्वी-पुत्र	(1950)	
33.	हिडिम्बा	(1950)	
34.	अंजलि और अर्घ्य	(1950)	
35.	जयभारत	(1952)	
36.	भूमि-भाग	(1953)	
37.	राजा-प्रजा	(1956)	
38.	विष्णुप्रिया	(1957)	
39.	रत्नावली	(1960)	
40.	स्वस्ति और संकेत	(1983)	

पद्यानुवाद :

1.	प्रतिमा	(1914)	भासकृत
2.	अविमारक	(1914)	भासकृत
3.	अभिषेक	(1914)	भासकृत
4.	दूत घटोत्कच	(1914)	भासकृत
5.	स्वप्न वासवदत्ता	(1914)	भासकृत
6.	विरहिणी ब्रजांगना	(1914)	माइकेल मधुसूदन दत्त कृत
7.	मेघनाद वध	(1927)	मधुसूदन दत्त कृत
8.	वीरांगना	(1927)	मधुसूदन दत्त कृत
9.	पलासी का युद्ध	(1920)	नवीन चन्द्र सेन
10.	वृत्र-संहार	(1962)	हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय

11. रूबाइयत उमरखै़ (1929) उमर खै़याम

संस्मरणात्मक गद्य :

1. मुंशी अजमेरी (1973)
2. श्रद्धांजलि संस्मरण (1979)

(ख) प्रमुख सहायक पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ

1. मैथिलीशरण गुप्त–डॉ. प्रभाकर माचवे, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली सं. 1987
2. अतीत का हंस : मैथिलीशरण गुप्त–डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र. सं. (1988)
3. मैथिलीशरण गुप्त : एक मूल्यांकन–पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,
4. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण–डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1977
5. महाराष्ट्र मानस का मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक, दिसम्बर, 1986
6. आलोचना-79, अक्टूबर दिसम्बर, 86
7. अतएव–(प्रवेशांक), राष्ट्रकवि की स्मृति को समर्पित, जुलाई-सितम्बर, 1987